* ॐ श्रीपरमात्मने नमः *
कल्याण
वर्ष ७०
संख्या ४

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

(संस्करण २,२५,०००)

विषय-सूची

कल्याण, सौर वैशाख, वि० सं० २०५३, श्रीकृष्ण-सं० ५२२२, अप्रैल १९९६ ई०

चित्र-सूची

इस अङ्कका मूल्य ४ रु०
विदेशमें—US$0.40
वार्षिक शुल्क (भारतमें)
डाक-व्ययसहित ८० रु०
(सजिल्द ९० रु०)
विदेशमें—US$11

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत्-चित्-आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट् जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

दसवर्षीय शुल्क
डाक-व्ययसहित
(भारतमें) ५०० रु०
(सजिल्द ६०० रु०)

संस्थापक—ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका
आदिसम्पादक—नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार
सम्पादक—राधेश्याम खेमका
केशोराम अग्रवालद्वारा गोविन्दभवन-कार्यालयके लिये गीताप्रेस, गोरखपुरसे मुद्रित तथा प्रकाशित

सती अनसूयाकी संकल्प-सिद्धि

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

कल्याण

धर्मे मतिर्भवतु वः सततोत्थितानां स ह्येक एव परलोकगतस्य बन्धुः।
अर्थाः स्त्रियश्च निपुणैरपि सेव्यमाना नैवाप्तभावमुपयान्ति न च स्थिरत्वम्॥

वर्ष ७० } गोरखपुर, सौर वैशाख, वि० सं० २०५३, श्रीकृष्ण-सं० ५२२२, अप्रैल १९९६ ई० { संख्या ४ / पूर्ण संख्या ८३३

सती अनसूयाकी संकल्प-सिद्धि

पतिव्रता अनुसूया निज गृह राखे बाल बनाई।
सुनि ह्वै बिकल सिवा उठि धाई, धात्रिहि सुगति सुनाई।
दोऊ तिय अकुलाय कही सब सिंधु-सुता ढिग जाई॥
सोच सँकोच बिबस तिहुँ बनिता ह्वै जिय निपट निरासा।
भूरि गरूर दूर धरि गमनी अत्रितिया के पासा॥

(रसिकबिहारीकृत राम-रसायन)

कल्याण

याद रखो—पारमार्थिक लाभ ही यथार्थ लाभ है और पारमार्थिक हानि ही यथार्थ हानि है। अतः जहाँ लौकिक लाभ पारमार्थिक लाभका विरोधी हो, वहाँ लौकिक लाभका मोह त्यागकर पारमार्थिक लाभकी रक्षा करनी चाहिये। इसी प्रकार जहाँ पारमार्थिक लाभमें लौकिक हानि हो, वहाँ पारमार्थिक लाभके लिये लौकिक हानिको सहर्ष स्वीकार कर लेना चाहिये।

याद रखो—लौकिक हानि-लाभसे आत्माके पतन-उत्थानका, अपने-आपके बन्धन-मोक्षका कोई सम्बन्ध नहीं है, परंतु पारमार्थिक हानिका तो अर्थ ही है आत्माका पतन, जीवात्माके बन्धनकी और भी दृढ़ता। तथा पारमार्थिक लाभका अर्थ ही है आत्माका उत्थान, जीवात्माकी मुक्तिकी ओर अग्रसरता।

याद रखो—एक आदमीके पास बहुत धन है, बड़ी उसकी प्रतिष्ठा है। जमीन-मकान हैं, पुत्र-पौत्र हैं, पद-अधिकार प्राप्त है—वह सब प्रकारसे सम्पन्न है, लौकिक लाभ उसके चारों ओर व्याप्त है, परंतु इसके बदलेमें उसका मन काम-क्रोधसे, मद-अभिमानसे, तृष्णा-लोभसे, द्वेष-हिंसासे, वैर-विरोधसे, मोह-ममतासे भर गया है और वह ईश्वरको भूलकर केवल विषयभोगोंकी प्राप्ति, रक्षा और भोगके लिये सदैव चिन्तित और निषिद्ध आचरणमें रत है तो उसका उपर्युक्त लौकिक लाभ उसके किसी कामका नहीं होगा। मरते ही समस्त प्राणि-पदार्थोंसे सम्बन्ध टूट जायगा, सबसे नाता टूट जायगा और उसे बाध्य होकर नरकानलमें दग्ध होना, नारकीय यातना भोगना और फिर बुरी-बुरी दुःखदायिनी योनियोंमें भटकना पड़ेगा। इस प्रकार उसका जीवात्मा—वह पतनके गर्तमें गिर जायगा।

याद रखो—यदि एक मनुष्य संसारकी दृष्टिमें अभावपूर्ण जीवन बिता रहा है, धन-मान, प्रतिष्ठा-प्रशंसा, पुत्र-परिवार, मित्र-सुहृद्, जमीन-मकान, पद-अधिकार—सभीसे वञ्चित है, बल्कि शरीरनिर्वाहके लिये भी जिसके पास साधन नहीं है, परंतु जिसका हृदय संतोष-क्षमा, विनय-विनम्रता, सहिष्णुता-तितिक्षा, प्रेम-सेवा, सुहृदता-सहानुभूति, मैत्री-करुणा, विवेक-वैराग्यसे पूर्ण है और जो भगवत्प्राप्तिके लक्ष्यसे भगवद्भजन और भगवत्सेवाको ही जीवनका स्वरूप मानकर नित्य-निरन्तर भगवत्प्रीतिकारक दैवी गुणोंके अर्जन, रक्षण और आचरणमें लगा हुआ ईश्वरकी ओर बढ़ रहा है, उसका उपर्युक्त लौकिक हानि या लौकिक प्राणि-पदार्थोंके अभावसे कोई सम्बन्ध नहीं है, वह निश्चय ही परम-कल्याणरूप भगवान्‌को प्राप्त करेगा। इस प्रकार उसको मानव-जीवनकी सच्ची सफलता प्राप्त होगी।

याद रखो—मनुष्ययोनि भगवत्प्राप्तिरूप महान् पारमार्थिक लाभके लिये ही प्राप्त हुई है। भगवान्‌की बड़ी कृपासे यह साधनधाम मानव-शरीर मिला है। इसको केवल इसी महान् कार्यकी साधनामें लगाना यथार्थ मानवता है। यदि मानव-शरीरका उपयोग भोगकामना और भोगोंके भोगमें किया जाय तो वह उसका दुरुपयोग ही है और यदि भोगोंके लिये दुर्गुण, दुर्विचारोंका आश्रय लेकर दूषित कर्म किये जायँ, तब तो मानव-जीवनका महान् दुरुपयोग है, क्योंकि मानव-जीवनमें किये हुए कर्मोंका फल ही जीवको अनन्त लोकों तथा अनन्त योनियोंमें विविध प्रकारसे भोगना पड़ता है।

याद रखो—जीव जबतक मनुष्य-योनिमें नहीं आता, तबतक तो वह अपने पूर्व मानव-जन्मकृत भोगोंको भोगकर कर्म-ऋणसे क्रमशः मुक्त होता रहता है। पर मानव-शरीर प्राप्त करके यदि भगवत्प्राप्तिके साधनमें नहीं लगता और भोग-प्राप्त्यर्थ सत्कर्म करता है तो उसे जन्म-मरणके चक्रमें पड़े रहकर सत्कर्मोंके फलस्वरूप विविध लोकों तथा योनियोंमें लौकिक सुख मिलता है, भगवत्प्राप्ति नहीं होती। यह उसकी महान् हानि होती है। मानव-जीवनका सुदुर्लभ अवसर हाथसे चला जाता है और यदि वह मानव-शरीरमें दुष्कर्म करता है, तब तो उसे विविध प्रकारकी भीषण नरकयन्त्रणा तथा विविध जघन्य योनियोंमें जन्म लेकर अपार कष्ट-भोग करना पड़ता है, इससे अच्छा था कि वह मानव-शरीर ही प्राप्त न करता।

याद रखो—मानव-शरीर विफल न हो जाय—नहीं तो, फिर बड़ा पश्चात्ताप करना पड़ेगा। अवसर हाथसे निकल जानेपर कोई भी उपाय नहीं रह जायगा, अतएव जबतक मानव-शरीर है, जबतक इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि क्रियाशील हैं, तबतक इनके द्वारा मानव-जीवनके एकमात्र कार्य भगवत्प्राप्तिके साधनमें लग जाओ। लौकिक हानिसे बचनेके लिये या लौकिक लाभकी प्राप्तिके लिये कोई भी ऐसा कार्य कभी भूलकर भी मत करो, जिससे पारमार्थिक लाभमें बाधा पहुँचे और तनिक भी पारमार्थिक हानि हो।—**'शिव'**

स्वधर्मे निधनं श्रेयः

(ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

आजकल ऐसी बात कही जाती है कि वर्णविभाग उच्च वर्णके अधिकारारूढ़ लोगोंकी स्वार्थपूर्ण रचना है, परंतु ध्यान देनेपर पता लगता है कि समाज-शरीरकी सुव्यवस्थाके लिये वर्णधर्म बहुत ही आवश्यक है और यह मनुष्यकी रचना है भी नहीं। वर्णधर्म भगवान्‌के द्वारा रचित है। स्वयं भगवान्‌ने कहा है—'**चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।**' (४। १३)

'गुण और कर्मोंके विभागसे चारों वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) मेरे ही द्वारा रचे हुए हैं। भारतके दिव्य दृष्टि-प्राप्त त्रिकालज्ञ महर्षियोंने भगवान्‌के द्वारा निर्मित इस सत्यको प्रत्यक्षरूपसे प्राप्त किया, और इसी सत्यपर समाजका निर्माण करके उसे सुव्यवस्थित, शान्ति, शीलमय, सुखी, कर्मप्रवण, स्वार्थदृष्टिशून्य कल्याणप्रद और सुरक्षित बना दिया। सामाजिक सुव्यवस्थाके लिये मनुष्योंके चार विभागकी सभी देशों और सभी कालोंमें आवश्यकता हुई है और सभीमें चार विभाग रहे और रहते भी हैं। परंतु इस ऋषियोंके देशमें वे जिस सुव्यवस्थितरूपसे रहे, वैसे कहीं नहीं रहे।

समाजमें धर्मकी स्थापना और रक्षाके लिये तथा समाज-जीवनको सुखी बनाये रखनेके लिये, जहाँ समाजकी जीवन-पद्धतिमें कोई बाधा उपस्थित हो, वहाँ प्रयत्नके द्वारा उस बाधाको दूर करनेके लिये, कर्मप्रवाहके भँवरको मिटानेके लिये, उलझनोंको सुलझानेके लिये और धर्मसंकट उपस्थित होनेपर समुचित व्यवस्था देनेके लिये परिष्कृत और निर्मल मस्तिष्कको आवश्यकता है। धर्मकी और धर्ममें स्थित समाजकी भौतिक आक्रमणोंसे रक्षा करनेके लिये बाहुबलकी आवश्यकता है। मस्तिष्क और बाहुका यथायोग्य रीतिसे पोषण करनेके लिये धनकी और अन्नकी आवश्यकता है। और उपर्युक्त कर्मोंको यथायोग्य सम्पन्न करानेके लिये शारीरिक परिश्रमकी आवश्यकता है।

इसीलिये समाज—शरीरका मस्तिष्क ब्राह्मण है, बाहु क्षत्रिय है, ऊरु वैश्य है और चरण शूद्र है। चारों एक ही समाज-शरीरके चार आवश्यक अङ्ग हैं और एक-दूसरेकी सहायतापर सुरक्षित और जीवित हैं। घृणा या अपमानकी तो बात ही क्या है, इनमेंसे किसीकी तनिक भी अवहेलना नहीं की जा सकती। न इनमें नीच-ऊँचकी ही कल्पना है। अपने-अपने स्थान और कार्यके अनुसार चारों ही बड़े हैं। ब्राह्मण ज्ञानबलसे, क्षत्रिय बाहुबलसे, वैश्य धनबलसे और शूद्र जनबल या श्रमबलसे बड़ा है। और चारोंकी ही पूर्ण उपयोगिता है। इनकी उत्पत्ति भी एक ही भगवान्‌के शरीरसे हुई है—ब्राह्मणकी उत्पत्ति भगवान्‌के श्रीमुखसे, क्षत्रियकी बाहुसे, वैश्यकी ऊरुसे और शूद्रकी चरणोंसे हुई है—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः। ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥

(ऋग्वेद सं० १०। ९०। १२)

परंतु इनका यह अपना-अपना बल न तो स्वार्थसिद्धिके लिये है और न किसी दूसरेको दबाकर स्वयं ऊँचा बननेके लिये ही है। समाज-शरीरके आवश्यक अङ्गोंके रूपमें इनका योग्यतानुसार कर्मविभाग है। और यह है केवल धर्मके पालने-पलवानेके लिये ही। ऊँच-नीचका भाव न होकर यथायोग्य कर्मविभाग होनेके कारण ही चारों वर्णोंमें एक शक्ति-सामञ्जस्य रहता है। कोई भी किसीकी न अवहेलना कर सकता है, न किसीके न्याय्य अधिकारपर आघात कर सकता है। इस कर्मविभाग और कर्माधिकारके सुदृढ़ आधारपर रचित यह वर्णधर्म ऐसा सुव्यवस्थित है कि इसमें शक्ति-सामञ्जस्य अपने-आप ही रहता है। स्वयं भगवान्‌ने और धर्मनिर्माता ऋषियोंने प्रत्येक वर्णके कर्मोंका अलग-अलग स्पष्ट निर्देश करके तो सबको अपने-अपने धर्मका निर्विघ्न पालन करनेके लिये और भी सुविधा कर दी है और स्वकर्मका पूरा पालन होनेसे शक्ति-सामञ्जस्यमें कभी बाधा आ ही नहीं सकती।

यूरोप आदि देशोंमें स्वाभाविक ही मनुष्य-समाजके चार विभाग रहनेपर भी निर्दिष्ट नियम न होनेके कारण शक्ति-सामञ्जस्य नहीं है। इसीसे कभी ज्ञानबल सैनिक बलको दबाता है और कभी जनबल धनबलको परास्त करता है। भारतीय वर्णविभागमें ऐसा न होकर सबके लिये पृथक्-पृथक् कर्म निर्दिष्ट हैं।

ऋषिसेवित वर्णधर्ममें ब्राह्मणका पद सबसे ऊँचा है,

वह समाजके धर्मका निर्माता है, उसीकी बनायी हुई विधिको सब मानते हैं। वह सबका गुरु और पथप्रदर्शक है; परंतु वह धन-संग्रह नहीं करता, न दण्ड ही देता है, न भोग-विलासमें ही रुचि रखता है। स्वार्थ तो मानो उसके जीवनमें है ही नहीं। धनैश्वर्य और पद-गौरवको धूलके समान समझकर वह फल-मूलोंपर निर्वाह करता हुआ सपरिवार शहरसे दूर वनमें रहता है। दिन-रात तपस्या, धर्मसाधन और ज्ञानार्जनमें लगा रहता है और अपने शम, दम, तितिक्षा, क्षमा आदिसे समन्वित महान् तपोबलके प्रभावसे दुर्लभ ज्ञाननेत्र प्राप्त करता है और उस ज्ञानकी दिव्य ज्योतिसे सत्यका दर्शन कर उस सत्यको बिना किसी स्वार्थके सदाचारपरायण, साधु-स्वभाव पुरुषोंके द्वारा समाजमें वितरण कर देता है। बदलेमें कुछ भी चाहता नहीं। समाज अपनी इच्छासे जो कुछ दे देता है या भिक्षासे जो कुछ मिल जाता है, उसीपर वह बड़ी सादगीसे अपनी जीवनयात्रा चलाता है। उसके जीवनका यही धर्ममय आदर्श है।

क्षत्रिय सबपर शासन करता है। अपराधीको दण्ड और सदाचारीको पुरस्कार देता है। दण्डबलसे दुष्टोंको सिर नहीं उठाने देता और धर्मकी तथा समाजकी दुराचारियों, चोरों, डाकुओं और शत्रुओंसे रक्षा करता है। क्षत्रिय दण्ड देता है, परंतु कानूनकी रचना स्वयं नहीं करता। ब्राह्मणके बनाये हुए कानूनके अनुसार ही वह आचरण करता है। ब्राह्मणरचित कानूनके अनुसार ही वह प्रजासे कर वसूल करता है और उसी कानूनके अनुसार प्रजाहितके लिये व्यवस्थापूर्वक उसे व्यय कर देता है। कानूनकी रचना ब्राह्मण करता है और धनका भंडार वैश्यके पास है। क्षत्रिय तो केवल विधिके अनुसार व्यवस्थापक और संरक्षक मात्र है।

धनका मूल वाणिज्य, पशु और अन्न सब वैश्यके हाथमें है। वैश्य धन उपार्जन करता है और उसको बढ़ाता है किंतु अपने लिये नहीं। वह ब्राह्मणके ज्ञान और क्षत्रियके बलसे संरक्षित होकर धनको सब वर्णोंके हितमें उसी विधानके अनुसार व्यय करता है। न शासनपर उसका कोई अधिकार है और न उसे उसकी आवश्यकता ही है। क्योंकि ब्राह्मण और क्षत्रिय उसके वाणिज्यमें कभी कोई हस्तक्षेप नहीं करते, स्वार्थवश उसका धन कभी नहीं लेते, वरं उसकी रक्षा करते हैं और ज्ञानबल तथा बाहुबलसे ऐसी सुव्यवस्था करते हैं कि जिससे वह अपना व्यापार सुचारुरूपसे निर्विघ्न चला सकता है। इससे उसके मनमें कोई असंतोष नहीं है। और वह प्रसन्नताके साथ ब्राह्मण तथा क्षत्रियका प्राधान्य मानकर चलता है और मानना आवश्यक भी समझता है, क्योंकि इसीमें उसका हित है। वह खुशीसे राजाको कर देता है, ब्राह्मणकी सेवा करता है और विधिवत् आदरपूर्वक शूद्रको भरपूर अन्न-वस्त्रादि देता है।

अब रहा शूद्र, शूद्र स्वाभाविक ही जनसंख्यामें अधिक है। शूद्रमें शारीरिक शक्ति प्रबल है, परंतु मानसिक शक्ति कुछ कम है। अतएव शारीरिक श्रम ही उसके हिस्सेमें रखा गया है। और समाजके लिये शारीरिक शक्तिकी बड़ी आवश्यकता भी है। परंतु इसकी शारीरिक शक्तिका मूल्य किसीसे कम नहीं है। शूद्रके जनबलके ऊपर ही तीनों वर्णोंकी प्रतिष्ठा है। यही आधार है। पैरके बलपर ही शरीर चलता है। अतएव शूद्रको तीनों वर्ण अपना प्रिय अङ्ग मानते हैं। उसके श्रमके बदलेमें वैश्य प्रचुर धन देता है, क्षत्रिय उसके धन-जनकी रक्षा करता है और ब्राह्मण उसको धर्मका, भगवत्प्राप्तिका मार्ग दिखलाता है। न तो स्वार्थसिद्धिके लिये कोई वर्ण शूद्रकी वृत्ति हरण करता है, न स्वार्थवश उसे कर्म-पारिश्रमिक देता है और न उसे अपनेसे नीचा मानकर किसी प्रकारका दुर्व्यवहार ही करता है। सब यही समझते हैं कि सब अपना-अपना स्वत्व ही पाते हैं, कोई किसीपर उपकार नहीं करता। परंतु सभी एक-दूसरेकी सहायता करते हैं और सब अपनी उन्नतिके साथ उसकी उन्नति करते हैं और उसकी उन्नतिमें अपनी उन्नति और अवनतिमें अपनी अवनति मानते हैं। ऐसी अवस्थामें जनबलयुक्त शूद्र संतुष्ट रहता है, चारोंमें कोई किसीसे ठगा नहीं जाता, कोई किसीसे अपमानित नहीं होता।

एक ही घरके चार भाइयोंकी तरह एक ही घरकी सम्मिलित उन्नतिके लिये चारों भाई प्रसन्नता और योग्यताके अनुसार बाँटे हुए अपने-अपने पृथक्-पृथक् आवश्यक कर्तव्यपालनमें लगे रहते हैं। यों चारों वर्ण परस्पर—ब्राह्मण धर्मस्थापनके द्वारा, क्षत्रिय बाहुबलके द्वारा, वैश्य धनबलके द्वारा और शूद्र शारीरिक श्रमबलके द्वारा एक-दूसरेका हित करते हुए समाजकी शक्ति बढ़ाते हैं। न तो सब एक-सा कर्म करना चाहते हैं और न अलग-अलग कर्म करनेमें

कोई ऊँच-नीच-भाव ही मनमें लाते हैं। इसीसे उनका शक्ति-सामञ्जस्य रहता है और धर्म उत्तरोत्तर बलवान् तथा पुष्ट होता है। यह है वर्णधर्मका स्वरूप।

इस प्रकार गुण और कर्मके विभागसे ही वर्णविभाग बनता है। परंतु इसका अर्थ यह नहीं कि मनमाने कर्मसे वर्ण बदल जाता है। वर्णका मूल जन्म है और कर्म उसके स्वरूपकी रक्षामें प्रधान कारण है। इस प्रकार जन्म और कर्म दोनों ही वर्णमें आवश्यक हैं। केवल कर्मसे वर्णको माननेवाले वस्तुतः वर्णको मानते ही नहीं। वर्ण यदि कर्मपर ही माना जाय तब तो एक दिनमें एक ही मनुष्यको न मालूम कितनी बार वर्ण बदलना पड़ेगा। फिर तो समाजमें कोई शृंखला या नियम ही नहीं रहेगा। सर्वथा अव्यवस्था फैल जायगी। परंतु भारतीय वर्णधर्ममें ऐसी बात नहीं है। यदि केवल कर्मसे वर्ण माना जाता तो युद्धके समय ब्राह्मणोचित कर्म करनेको तैयार हुए अर्जुनको गीतामें भगवान् क्षत्रियधर्मका उपदेश न करते। मनुष्यके पूर्वकृत शुभाशुभ कर्मोंके अनुसार ही उसका विभिन्न वर्णोंमें जन्म हुआ करता है। जिसका जिस वर्णमें जन्म होता है, उसको उसी वर्णके निर्दिष्ट कर्मोंका आचरण करना चाहिये। क्योंकि वही उसका स्वधर्म है। और स्वधर्मका पालन करते-करते मर जाना भगवान् श्रीकृष्णने कल्याणकारक बतलाया है। **'स्वधर्मे निधनं श्रेयः।'** साथ ही परधर्मको 'भयावह' भी बतलाया है। यह ठीक ही है; क्योंकि सब वर्णोंके स्वधर्म-पालनसे ही सामाजिक शक्ति-सामञ्जस्य रहता है और तभी समाज-धर्मकी रक्षा और उन्नति होती है। स्वधर्मका त्याग और परधर्मका ग्रहण व्यक्ति और समाज दोनोंके लिये ही हानिकर है। खेदकी बात है, विभिन्न कारणोंसे आर्यजातिकी यह वर्ण-व्यवस्था इस समय शिथिल हो चली है। आज कोई भी वर्ण अपने धर्मपर आरूढ़ नहीं है, सभी मनमाने आचरण करनेपर उतर रहे हैं और इसका कुफल भी प्रत्यक्ष ही दिखायी दे रहा है।

(गीता-तत्त्वविवेचनी-टीकासे)

कर्मयोगका सारभूत रहस्य

भजन-ध्यान तो सदा-सर्वदा ही परम श्रेष्ठ है। परंतु एकान्तमें भजन-ध्यान न करके भी भगवच्चिन्तनसहित शास्त्रविहित कर्तव्य कर्मोंको निरन्तर करता हुआ ही निष्काम कर्मयोगी परमात्माकी शरण और उसकी कृपासे परमगतिको प्राप्त हो जाता है।

अपने-अपने वर्ण-धर्मके अनुसार कर्ममें लगा हुआ पुरुष सिद्धिको प्राप्त हो जाता है, अवश्य ही कर्म करते समय मनुष्यका लक्ष्य परमात्मामें रहना चाहिये।

जिस प्रकार पतिव्रता स्त्री पतिको ही अपना सर्वस्व मानकर पतिका ही चिन्तन करती हुई, पतिके आज्ञानुसार, पतिके लिये ही मन, वाणी, शरीरसे नियत (अपने जिम्मे बँधे हुए) संसारके समस्त कर्मोंको करती हुई पतिकी प्रसन्नता प्राप्त करती है, इसी प्रकार निष्काम कर्मयोगी एक परमात्माको ही अपना सर्वस्व मानकर उसीका चिन्तन करता हुआ उसीके आज्ञानुसार मन, वाणी, शरीरसे उस परमात्माके ही लिये अपने कर्तव्य-कर्मका आचरण कर परमात्माकी प्रसन्नता और परमात्माको प्राप्त करता है।

समस्त—सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंमें परमात्माको व्याप्त समझकर सभीको परमात्माका स्वरूप मानकर अपने कर्मोंद्वारा निष्काम कर्मयोगी भक्त भगवान्‌की पूजा करता है।

जैसे धनका लोभी मनुष्य अपने प्रत्येक कर्ममें धनकी प्राप्तिका उपाय ही सोचता है। किसी तरह धन मिलना चाहिये केवल यही भाव उसके मनमें निरन्तर रहता है। जिस काममें रुपये लगते हैं, रुपये नहीं आते या उनके आनेमें कुछ बाधा होती है, उस कामके समीप भी वह जाना नहीं चाहता। वह केवल उन्हीं कार्योंको करता है जो धनकी प्राप्तिके अनुकूल या सहायक होते हैं। इसी प्रकार निष्काम कर्मयोगी भी 'आठ पहर चौंसठ घड़ी' मन, वाणी, शरीरद्वारा उन्हीं सब कर्मोंको करता है जो ईश्वरको संतुष्ट करनेवाले होते हैं।
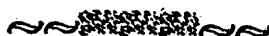
वैष्णवधर्म

(भागवताचार्य प्रभुपाद श्रीमान् प्राणकिशोर गोस्वामी महाराज, एम्० ए०, विद्याभूषण, साहित्यरत्न)

जीवकी चेतनाके साथ-साथ उसकी आनन्द-संवेदना लगी हुई है। समस्त रूप-रस-गन्धमें निरवच्छिन्न सर्वाश्रय परमात्माके आनन्दस्वरूपके अनुस्मरणमें विष्णुभावना समुल्लसित होती है—

तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः।
दिवीव चक्षुराततम्। (ऋग्वेद १। २२। २०)

इस सत्यका आश्रय लेकर वैदिक आराधनाकी प्रवृत्ति है, वही वैष्णवधर्म है। प्रागैतिहासिक युगमें—

इदं विष्णुर्वि चक्रमे त्रेधा नि दधे पदम्।
समूळ्हमस्य पांसुरे। (ऋग्वेद १। २२। १७)

—इस मन्त्रमें त्रिविक्रम विष्णुकी सर्वाधिक महिमामें वैष्णव-भावनाके रहस्यका अनुसंधान करना चाहिये।

तमु स्तोतारः पूर्व्यं यथा विद ऋतस्य गर्भं जनुषा पिपर्तन।
आस्य जानन्तो नाम चिद् विवक्तन महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे॥
(ऋग्वेद १। १५६। ३)

—ऋग्वेदके इस मन्त्रमें वैष्णव-साधनाका मूल स्रोत प्राप्त होता है। 'हे विष्णो! तुम्हारी अनन्त महिमाको हम कितना-सा जानते हैं और क्या कह सकते हैं? तुम्हारे नामकी महिमाको जानकर नाम-भजन ही हम करते हैं। इसीसे हमको सुमति प्राप्त होगी।'

संहिता, उपनिषद्, ब्राह्मण, सूत्र, पञ्चरात्र, पुराण, तन्त्र आदि सब शास्त्रोंमें विष्णु, वैष्णव और धर्मकी बातें भरी पड़ी हैं। मनु, अत्रि, विष्णु आदि स्मृतियाँ विष्णु, नारायण, अच्युतकी नाम-महिमा, वैष्णवके धर्माचार तथा सामाजिक और व्यक्तिगत जीवनचर्याकी विस्तृत प्रयोगपद्धति विश्लेषण-पूर्वक प्रदर्शित करती हैं।

शाण्डिल्यविद्या और सूत्र, नारद-भक्तिसूत्र, महाभारतके नारायणीय और पाञ्चरात्रिक व्यूहविचार, गौतमीय तन्त्र तथा तापिनी श्रुतिके समन्वयसे वैष्णवधर्मका जो विस्तार हुआ है और जिस वैचित्र्यका विकास हुआ है, वह एक विराट् साहित्य है।

इसको कोई पाञ्चरात्रिक कहते हैं तो कोई पौराणिक साहित्य,कोई तान्त्रिक कहते हैं तो कोई अवैदिक और कोई बौद्ध-प्रभाव बतलाते हैं। पता नहीं, क्या-क्या कहते हैं।

वैष्णव कहते हैं कि अनादि वैष्णवधर्म काल-कलन-धर्मी युगधर्मप्रवर्तक सार्वजनिक मानव-धर्म है। श्रीविष्णुके चरणाश्रित भक्तोंके लिये यह धर्म नित्य है। देवर्षि नारद, व्यास, वाल्मीकि, श्रीशुक आदिने साधनासे, चिन्तनसे, भावनासे, प्रेरणासे सुरसरिकी धाराके समान सर्वलोकपावन वैष्णवधर्मको मानवके हृदयाङ्गणमें अवतरित किया है। वेदप्रतिपाद्य यह धर्म पाशुपत आदि धर्मोंके समान शून्यवादपर आश्रित मतवादसे पूर्णतः पृथक् और स्वतन्त्र है। सौर, शाक्त, शैव और गाणपत्य-निगमसे नियन्त्रित साधनाका जो क्रम समस्त भारतमें फैला हुआ है, उसमें सर्वत्र विष्णु, नारायण, यज्ञेश्वरको मुख्य स्थान प्राप्त है।

स्मार्त, वैदिक, वेदान्ती, तान्त्रिक या पौराणिक—सभी विष्णुभगवान्का नामस्मरण करके पवित्र होते हैं, विष्णुभगवान्का नामस्मरण करके आचमन करते हैं, यज्ञेश्वरकी पूजा करके अन्य किसी पूजामें लगते हैं। नित्य, नैमित्तिक, काम्य या निष्काम कर्म विष्णुको समर्पित होनेपर ही पूर्ण फल प्रदान करते हैं, अन्यथा मन्त्रतः या तन्त्रतः कोई-न-कोई छिद्र—दोष रह जानेके कारण सम्यक्रूपसे अनुष्ठित नहीं माने जाते।

जलचर, थलचर, नभचर प्राणिसमूह तथा मानव—सबमें सर्वत्र एक विष्णु ही गुहाशय-रूपमें प्रविष्ट हैं। स्थावर-जंगम उन्हींके ही रूप हैं। विष्णुभक्त इस रूपका दर्शन करके उन्हें प्रणाम करते हैं।

सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः॥
(श्रीमद्भागवत ११। २। ४५)

स्थावर जङ्गम देखे ना देखे ताँर मूर्ति।
जाहाँ जाहाँ दृष्टि पड़े ताहाँ इष्ट स्फूर्ति॥

परम देवताके मर्त्यलोकमें अवतरणका संदेश वैष्णवधर्मकी ही देन है। संसारके अन्य किसी धर्मदर्शनमें इस प्रकार सुस्पष्ट भाषामें स्वयं भगवान्के अवतारकी बात नहीं है। वैष्णवलोग भगवान्की अनन्त लीला, अनन्त धाम, अनन्त प्रकाश और अनन्त महिमाके सम्बन्धमें संदेहरहित विश्वासका

परिचय देकर प्राकृत लोकोंमें उसके दर्शनार्थ उदग्रदृष्टि होते हैं। वे सहस्र भुजावाले हैं, अष्टभुज हैं, चतुर्भुज हैं तथा द्विभुज भी हैं। अनेक रूपोंमें उनकी आराधना होती है। श्री, भू, लीला आदिसे परिसेवित श्रीनारायणरूपमें, श्रीराम-जानकी युगलसरकारके रूपमें, फिर गोपालकृष्ण, गोपीजनवल्लभ, राधा-श्यामसुन्दर-स्वरूपमें आराधित हैं। यह साधनाका क्रम अनादि-कालसे चला आ रहा है। इसको ऐतिहासिक विचारसरणिमें लाकर जो इसे किसी देश-कालमें या किसी मानव-समाजके द्वारा सृष्ट बतलाया जाता है, उसे वैष्णवगण नहीं मानते। श्रीभगवान्का रूप नित्य है, पार्षद नित्य हैं, धाम नित्य है और उनकी लीला नित्य है। समय-समयपर उसका प्राकट्य और अप्राकट्य, आविर्भाव और तिरोभाव होता है।

विष्णुरेव हि यस्यैष देवता वैष्णवः स्मृतः।

—लिङ्गपुराणके इस वाक्यके अनुसार श्रीविष्णुके आराधक वैष्णव हैं। और भी विशेषरूपसे कहा गया है—

गृहीतविष्णुदीक्षाको विष्णुपूजापरो नरः।
वैष्णावोऽभिहितोऽभिज्ञैरितरोऽस्मादवैष्णवः ॥

वैष्णव दीक्षा लेकर श्रीविग्रहकी सेवा करे। श्रीगौराङ्ग महाप्रभुसे कुलीन ग्रामवासी पूछते हैं—'वैष्णव कौन है?' प्रभु पहले कहते हैं—

जाँर मुखे एक बार सुनि कृष्णनाम।
सेइ वैष्णव ताँर करिओ सम्मान॥

दूसरे वर्ष भी ग्रामवासियोंने वैसा ही प्रश्न फिर किया। इस बार गौराङ्गने कहा—

कृष्ण नाम निरन्तर जाँहार बदने।
सेइ वैष्णव श्रेष्ठ, भज ताँहार चरणे॥

तीसरे वर्ष पुनः यही प्रश्न करनेपर महाप्रभुने उनसे कहा—

जाँहार दर्शने मुखे आइसे कृष्णनाम।
ताँहारे जानिओ तुमि वैष्णव-प्रधान॥

इस प्रकारसे भागवतगणका तारतम्य शास्त्रमें वर्णित है। वैष्णव निरभिमानी होते हैं। वर्णाश्रमके कारण उच्च या नीचका कोई विरोध उनमें नहीं होता। वे लोग कुल-गौरव, विद्या या धनके गौरवको तुच्छ जानकर सब अवस्थाओंमें अपनेको सबका सेवक समझते हुए सबका सम्मान करते हैं। ब्राह्मणकुलमें जन्म लेकर भी आभिजात्यहीन वैष्णव जानते हैं कि भजनके प्रभावसे हीन कुलमें उत्पन्न व्यक्ति भी सर्वपूज्य हो जाते हैं। अन्तर्निहित गुणोंके परमोत्कर्षका आविष्कार ही वैष्णव-जीवनकी सार्थकता है। वैष्णवका देह भगवान्का रथ है, हृदय उनका सिंहासन है, प्रत्येक अङ्गमें हरिमन्दिर है, पदचारण परिक्रमा है, वाणीमें नाममन्त्र है, दृष्टिमें प्रेम है, व्यवहारमें पूजा है, दर्शनमें पवित्रता है और सेवामें भगवत्सांनिध्य है। सत्यनिष्ठा, शौर्य, निर्भीकता, दैन्य, कारुण्य उनके अङ्गके भूषण हैं। प्राचीन वैष्णवोंका नाम-स्मरण करके मैं उनको प्रणाम करता हूँ—

प्रह्लादनारदपराशरपुण्डरीक-
व्यासाम्बरीषशुकशौनकभीष्मदाल्भ्यान्।
रुक्माङ्गदार्जुनवसिष्ठविभीषणादीन्
पुण्यानिमान् परमभागवतान् नमामि॥

देवर्षि नारद भक्तिप्रवर्तक गुरु हैं और प्रह्लाद शिष्य हैं। श्लोकमें प्रह्लादका नाम सर्वप्रथम उल्लेख करना तात्पर्यपूर्ण है। भक्तिकी प्रबलतासे गुरु-शिष्यमें शिष्यका नाम ही अधिक आदरणीय माना गया है, दैत्यकुलमें जन्म लेनेपर भी इसमें बाधा नहीं आयी। भक्तिनिष्ठा, सदाचार, विश्वास, ज्ञान, परिचर्या, प्रेम, शुश्रूषा, चारित्रिक दृढ़ता, त्याग, संयम, निर्भरशीलता, सूक्ष्मदृष्टि, शरणागति आदि सद्वृत्तियाँ भक्तोंका आश्रय लेकर नित्य समुज्ज्वल हो रही हैं।

वैष्णव-साधना सार्वजनिक, सार्वदेशिक और सार्वकालिक है। सब लोग परम पुरुषोत्तमकी सेवाके अधिकारी हैं। अतएव वैष्णव-भाव अनुशीलनके योग्य है। दूसरी साधनाओंमें योग्य और अयोग्यका विचार होता है। जो अयोग्य माना जाता है, उसका प्रवेश निषिद्ध होता है। वैष्णवका द्वार पतित, अधम, अयोग्य—सभीके लिये खुला है। जिस दिन भगवान्का नाम ग्रहण किया, उसी दिनसे वैष्णव-साधना आरम्भ हो गयी। जितना जो कुछ होता है, सब जमा होता जाता है, जरा-सा भी नष्ट नहीं होता। अति अल्प साधनासे बहुत लाभ होता है। जिस दिन तनिक भी भक्त-संग हुआ, जिस दिन साधुका चरणस्पर्श प्राप्त हुआ, नामकी ध्वनि कानमें पहुँची, उसी दिनसे भक्तिका आभास पाकर भगवान्

संतुष्ट हो गये। बलदेव विद्याभूषणकी भाषामें—

भक्त्याभासेनापि तोषं दधाने
धर्माध्यक्षे विश्वनिस्तारनाम्नि।
नित्यानन्दाद्वैतचैतन्यरूपे
तत्त्वे तस्मिन् नित्यमास्तां रतिर्नः॥

वैष्णव विश्वासमय जीवन-यापन करते हैं। विश्वस्त भगवान् अपने भक्तको वञ्चित नहीं करते। अति अल्पसाधनसे ही उनकी प्रीति प्राप्त होती है। '**पत्रं पुष्पं फलं तोयम्**'—यदि पत्र, पुष्प, फलके आहरणमें श्रम होता हो तो अनायास लब्ध जलसे भी उनकी पूजा हो जाती है। '**जलस्य चुलुकेन वा**'—एक चुल्लू जलके प्रदान करनेपर भी श्रीभगवान् भक्तके सामने ऋणी होकर आत्मविक्रय करते हैं—

कृष्णके तुलसी -जल देय जेइ जन।
तार ऋण शोधिवारे कृष्ण करेन चिन्तन॥
तुलसी जलेर मत धरे नाहि धन।
अतएव आत्म बेचि करे ऋणेर शोधन॥

वैष्णवशरीरमें विष्णुभगवान्‌की गुणावली संक्रमित होती है। वैष्णव क्षमाशील, हिंसारहित, सहिष्णु, सत्यप्रिय, निर्मल, समभाव, निरुपाधि, कृपालु, अक्षुब्ध, स्थिरबुद्धि, संयतेन्द्रिय, कोमलस्वभाव, पवित्र, अकिंचन, कामनारहित, मिताहारी, शान्त, शरणागत, अप्रमत्त, गम्भीराशय, निरभिमान, सम्मानकारी, बन्धुभावापन्न, करुणस्वभाव तथा सत्यद्रष्टा होते हैं।

आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः।
ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः॥

नारायण-नामका तात्पर्य निखिल जीवका परम आश्रय है। उसी नारायणके चरणोंका आश्रय लेकर वैष्णवभावधारा फैल गयी है—विभिन्न प्रकारके मतवादोंमें परस्पर मतभेद होनेपर भी वैष्णव आचार्य एक अभिन्न परम पुरुषोत्तमके संधानमें प्रवृत्त हुए हैं।

श्रीरामानुज, निम्बार्क, मध्व, विष्णुस्वामी, वल्लभाचार्य, बलदेव विद्याभूषण आदि आचार्योंने वेदान्तसूत्रोंपर भाष्य करके दार्शनिक विचारको प्रतिष्ठित किया है। प्रधानतः उनके भाष्योंमें अनात्मा जड-जीव और जीवात्मा, परमात्मा-परमेश्वर और उनके नित्य पार्षद भक्तोंको लेकर विचार किया गया है। इससे सृष्ट जगत्, स्रष्टा परमेश्वर और आराधक जीवका सम्बन्ध-निरूपण करनेमें विभिन्न प्रकारके मतवाद प्रकट हुए हैं। श्रीरामानुजका विशिष्टाद्वैत, श्रीनिम्बार्कका द्वैताद्वैत, श्रीमध्वका द्वैत, श्रीवल्लभका शुद्धाद्वैत और श्रीबलदेवका अचिन्त्यभेदाभेदवाद वैष्णवगणके लिये विचारणीय हैं। इनके विषयमें आलोचना करनेका यहाँ अवकाश नहीं है। यहाँ तो देखना यह है कि आचार्य रामानुज परम धर्मके सम्बन्धमें, शरणागतिके विषयमें क्या कहते हैं—

श्रीमन्नारायण अशरणशरण्य अनन्यशरणं त्वत्पदारविन्दयुगलं शरणमहं प्रपद्ये।

सर्वधर्मांश्च संत्यज्य सर्वकामांश्च साक्षरान्।
लोकविक्रान्तचरणौ शरणं तेऽव्रजं विभो॥

'जिसका कोई नहीं, हे नारायण! एकमात्र तुम्हीं उसके हो। मेरा और कोई नहीं, और कुछ भी नहीं है। तुम्हारे पदयुगलमें मैंने शरण ले ली है।' आचार्य निम्बार्क भी कहते हैं—

नान्या गतिः कृष्णपदारविन्दात्
संदृश्यते ब्रह्मशिवादिवन्दितात्॥

'ब्रह्मादि देवगणके द्वारा वन्दित श्रीकृष्ण-पदारविन्दके सिवा और कहीं भी गति नहीं देखनेमें आती।'

श्रीमध्वाचार्य कहते हैं—

श्रीमन्तं समुपास्महे सुमनसामिष्टप्रदं विट्ठलम्।

'साधुजनके मङ्गलायतन श्रीमान् विट्ठलदेवकी मैं उपासना करता हूँ।' श्रीवल्लभाचार्यने '**श्रीकृष्णः शरणं मम**', '**दासोऽहं श्रीकृष्ण तवास्मि**' कहकर सम्यक् शरणागतिका उपदेश दिया है। बलदेव विद्याभूषण प्रार्थना करते हुए कहते हैं—

समुद्धृत्य यो दुःखपङ्कात् स्वभक्तान्
नयत्यच्युतश्चित्सुखे धाम्नि नित्यम्।
प्रियान् गाढरागात् तिलार्धं विमोक्तुं
न चेच्छत्यसावेव सुज्ञैर्निषेव्यः॥

'जो अपने भक्तोंको दुःखपङ्कसे उद्धार करके चिदानन्दमय निज नित्यधाममें बुला लेते हैं तथा प्रगाढ़ अनुरागवश उनको क्षणमात्रके लिये भी छोड़ना नहीं चाहते, पण्डित लोगोंको उन्हीं अच्युतकी आराधना करनी चाहिये।'

श्रीरामानुजाचार्यके आराध्य शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारी

चतुर्भुज श्रीविष्णुभगवान् हैं, और सभीके आराध्य द्विभुज श्रीकृष्ण गोविन्द गोपाल हैं। श्रीरामानन्द द्विभुज श्रीरामके उपासक हैं। तुलसीदासजी भक्ति-भावसे कहते हैं—

अस प्रभु दीनबंधु हरि कारन रहित दयाल।
तुलसिदास सठ तेहि भजु छाड़ि कपट जंजाल॥

सर्वाङ्गमें हरिमन्दिर-रचना, चक्रादि-चिह्न—नामाङ्कन-धारण, तुलसीमाला, कण्ठी, नामजप-माला आदि धारण, महाप्रसाद-भोजन, आमिष-त्याग, तुलसी-सेवन, धाममें वास, श्रीगुरु और विग्रहकी सेवा, नित्य भागवत-रामायण आदि शास्त्रोंका पाठ तथा श्रवण, स्तुति-पाठ—वैष्णवाचारका पालन, नामसंकीर्तन सभी सम्प्रदायोंमें नित्य-कर्तव्य माने गये हैं। भक्तिके चौसठ अङ्ग हैं, परंतु कम-से-कम नौ अङ्ग, अथवा किसी भी एक अङ्गके साधनसे भी जीव कृतार्थ हो सकता है। श्रीरामानुजाचार्यने जिस प्रकार शरणागतिको प्रधानता प्रदान की है, व्रजवासीगणने उसी प्रकार सेवा-सुखकी प्रधानता स्वीकार की है। पुष्टिमार्गका अवलम्बन करनेवाले श्रीवल्लभाचार्यके अनुयायी प्रीतिपूर्वक श्रीविग्रह और गुरुकी सेवा करते हैं। श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुकी कृपासे परिपुष्ट श्रीरूप-सनातन आदि वैष्णव-गुरुजनोंने बंगाल, श्रीक्षेत्र तथा श्रीवृन्दावनको एक अखण्ड प्रेम-सूत्रमें ग्रथित कर भारतके एक प्रान्तसे दूसरे प्रान्ततक श्रीहरिनाम-संकीर्तनको ही कलियुगमें एकमात्र साधन और साध्यके सिद्धान्तके रूपमें प्रचारित किया है।

भगवान् श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुने स्वयं कीर्तन करके शिक्षा दी है—

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे॥

कलिकाले नामरूपे कृष्ण अवतार।
नाम हैते सर्वजगत् हय त निस्तार॥

विष्णु-मन्दिर-निर्माण, देवता-प्रतिष्ठा, प्राकार—विमान आदिकी संख्या, उच्चता, विस्तार आदिके सम्बन्धमें भारतीय स्थापत्यमें विराट् साहित्य विद्यमान है। शास्त्रानुमोदित देश-काल आदिका विचार करके देवताकी प्रतिष्ठा और अर्चनाके प्रवर्तनमें कितने नये-नये तीर्थोंकी सृष्टि वैष्णवोंने की है, इसकी गणना कौन कर सकता है? मन्दिरमय भारतवर्षमें विष्णुमन्दिरोंकी संख्या सर्वापेक्षा अधिक है, यह कहनेमें अत्युक्ति नहीं है। आधुनिक मन्दिरोंमें प्राचीन गोपुरोंमें अवस्थित देवी-देवताओंकी मूर्तियाँ प्रायः लुप्त हो रही हैं और उनके स्थानमें अधिकार कर लिया है मन्दिरकी दीवालोंपर साधु-संत महापुरुषोंके चित्रोंने। किसी-किसी मन्दिरकी दीवालमें गीता-भागवतके श्लोक भी उत्कीर्ण देखे जाते हैं। ये सब मन्दिर आगे साधकोंको शास्त्रानुशीलनके लिये प्रेरणा प्रदान करेंगे—यह आशा की जाती है। उत्तरमें बदरीनारायण, दक्षिणमें विठोबा, तिरुपति, विष्णुकाञ्ची और वरदराज, पश्चिममें सुदामापुरी, वेटद्वारका तथा समुद्रके तटपर पुरुषोत्तम नीलाचलनाथ, मध्यभारतमें अयोध्यामें श्रीराम, मथुरा-वृन्दावनमें श्रीकृष्ण और उन्हींके विशेष आविर्भाव नदियामें श्रीकृष्णचैतन्य हैं। इस वैष्णव-भावधाराके उच्छ्वासमें केवल धर्म और धार्मिक ही नहीं, बल्कि कितने गुणी, ज्ञानी, शिल्पकार और कवियोंकी मानसिक शक्तिका—मनोराज्यका विकास हुआ है, इसका इतिहास कौन लिखेगा? भारतीय साहित्यको वैष्णव कवियोंने जिस प्रकार संजीवित, सरसित और समृद्ध बनाया है, उसके प्रभावने भारतकी प्रत्येक भाषाके ऊपर अपनी छाप लगा दी है। दिल्लीके समीप सूरदास, महाराष्ट्रमें ज्ञानेश्वर, नामदेव और तुकाराम, गुजरातमें नरसी मेहता, राजस्थानमें मीराँबाई, असम प्रदेशमें शंकरदेव, बंगालमें जयदेव-चण्डीदास तथा गोविन्ददास, मिथिलामें विद्यापति, उड़ीसामें जगन्नाथदास और भी कितने वैष्णव कवियोंके काव्य, पद, पदावली, दोहा, सोरठा, ओवी और अभङ्गोंके द्वारा परमदेवताकी महिमाका वर्णन हुआ है, उसकी सीमा नहीं है।

हरिकथा वैष्णवके लिये परम आदरणीय है। वैष्णव भाषाका विरोध नहीं करता। एकनाम महाराज कहते हैं—

आतां संस्कृता किंवा प्राकृता भाषा झाली जे हरिकथा।
ते पावनचि तत्त्वता सत्य सर्वथा मानली॥

संस्कृत या जो कोई प्राकृत भाषा हो, हरिकथा उसका गौरव है। साधुगण इस प्रकार सभी भाषाओंको सम्मान प्रदान करते हैं। भाषाकी सम्पत्ति है—हरिकथा तथा वैष्णवोंकी सम्पत्ति है—हरिनाम-हरिभक्ति।

भगवान्‌के सामने दीनता

(नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

साधकोंके लिये एक बहुत उत्तम उपाय है परमेश्वरके सामने आर्त होकर दीनभावसे हृदय खोलकर रोना, यह साधन एकान्तमें करनेका है। सबके सामने करनेसे लोगोंमें उद्वेग होने और साधनके दम्भरूपमें परिणत हो जानेकी सम्भावना है। प्रातःकाल, संध्या-समय, रातको, मध्यरात्रिके बाद या उषाकालमें जब सर्वथा एकान्त मिले, तभी आसनपर बैठकर मनमें यह भावना करनी चाहिये कि 'भगवान् यहाँ मेरे सामने उपस्थित हैं, मेरी प्रत्येक बातको सुन रहे हैं और मुझे देख भी रहे हैं।' यह बात सिद्धान्तसे भी सर्वथा सत्य है कि भगवान् हर समय हर जगह हमारे सभी कामोंको देखते और हमारी प्रत्येक बात सुनते हैं। भावना बहुत दृढ़ होनेपर, भगवान्‌के जिस स्वरूपका इष्ट हो, वह स्वरूप साकाररूपमें सामने दीखने लगता है एवं प्रेमकी वृद्धि होनेपर तो भगवत्कृपासे भगवान्‌के साक्षात् दर्शन भी हो सकते हैं। अस्तु।

नियत समय और यथासाध्य नियत स्थानमें प्रतिदिन नित्यकी भाँति आसन या जमीनपर बैठकर भगवान्‌को अपने सामने उपस्थित समझकर दिनभरके पापोंका स्मरण कर उनके सामने अपना सारा दोष रखना चाहिये और महान् पश्चात्ताप करते हुए आर्तभावसे क्षमा तथा फिर पाप न बने, इसके लिये बलकी भिक्षा माँगनी चाहिये। हो सके तो भक्तश्रेष्ठ श्रीसूरदासजीका यह पद गाना चाहिये या इस भावसे अपनी भाषामें सच्चे हृदयसे विनय करना चाहिये—

मो सम कौन कुटिल खल कामी।
जिन तनु दियो ताहि बिसरायो ऐसो नमकहरामी॥
भरि भरि उदर बिषयको धायो जैसे सूकर ग्रामी।
हरिजन छाँड़ि हरी बिमुखनकी निसिदिन करत गुलामी॥
पापी कौन बड़ो जग मोतें सब पतितनमें नामी।
सूर पतितकौ ठौर कहाँ है सुनिये श्रीपति स्वामी॥

हे दीनबन्धो! यह पापी आपके चरणोंको छोड़कर और कहाँ जाय? आप-सरीखे अनाथनाथके सिवाय जगत्‌में ऐसा कौन है जो मुझपर दयादृष्टि करे! प्रभो! मेरे पापोंका पार नहीं है, जब मैं अपने पापोंकी ओर देखता हूँ, तब तो मुझे बड़ी निराशा होती है, करोड़ों जन्मोंमें भी उद्धारका कोई साधन नहीं दीखता, परंतु जब आपके विरदकी ओर ध्यान जाता है तब तुरंत ही मनमें ढाढ़स आ जाता है। आपके वह वचन स्मरण होते हैं, जो आपने रणभूमिमें अपने सखा और शरणागत भक्त अर्जुनसे कहे थे—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥
सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

'अत्यन्त पापी भी अनन्यभावसे मुझको निरन्तर भजता है तो उसे साधु ही मानना चाहिये; क्योंकि उसने अबसे आगे केवल भजन करनेका ही भलीभाँति निश्चय कर लिया है। अतएव वह शीघ्र ही धर्मात्मा बन जाता है और सनातन परम शान्तिको प्राप्त होता है। हे अर्जुन! तू निश्चयपूर्वक सत्य समझ कि मेरा भक्त कभी नष्ट नहीं होता। हे भाई! तू सब धर्मोंको छोड़कर केवल एक मुझ वासुदेव श्रीकृष्णकी शरण हो जा, मैं तुझे सारे पापोंसे छुड़ा दूँगा, तू चिन्ता न कर।'

कितने जोरके शब्द हैं, आपके सिवा इतनी उदारता और कौन दिखा सकता है? ***'ऐसो को उदार जग माहीं।'*** परंतु प्रभो! अनन्यभावसे भजन करना और एक आपकी ही शरण होना तो मैं नहीं जानता। मैंने तो अनन्त जन्मोंमें और अबतक अपना जीवन विषयोंकी गुलामीमें ही खोया है, मुझे तो वही प्रिय लगे हैं, मैं आपके भजनकी रीति नहीं समझता। अवश्य ही विषयोंके विषम प्रहारसे अब मेरा जी घबड़ा उठा है, नाथ! आप अपने ही विरदको देखकर मुझे अपनी शरणमें रखिये और ऐसा बल दीजिये, जिससे एक क्षणके लिये भी आपके मनमोहन रूप और पावन नामकी विस्मृति न हो।

हे दीनबन्धो! दीनोंपर दया करनेवाला दूसरा कौन है?

दीनको दयालु दानि दूसरो न कोऊ।
जाहि दीनता कहौं हौं देखौं दीन सोऊ॥

सुर, नर, मुनि, असुर, नाग साहिब तौ घनेरे।
तौ लौं जौ लौं रावरे न नेकु नयन फेरे॥
त्रिभुवन तिहुँ काल बिदित, बेद बदति चारी।
आदि-अन्त-मध्य राम! साहबी तिहारी॥
तोहि माँगि माँगनो न माँगनो कहायो।
सुनि सुभाव-सील-सुजसु जाचन जन आयो॥
पाहन-पसु बिटप-बिहँग अपने करि लीन्हे।
महाराज दसरथके! रंक राय कीन्हे॥
तू गरीबको निवाज, हौं गरीब तेरो।
बारक कहिये कृपालु! तुलसिदास मेरो॥

हे तिरस्कृत भिखारियोंके आश्रयदाता! दूसरा कौन ऐसा है जो आपके सदृश दीनोंको छातीसे लगा ले? जिसको सारा संसार घृणाकी दृष्टिसे देखता है, घरके लोग त्याग देते हैं, कोई भी मुँहसे बोलनेवाला नहीं होता, उसके आप होते हैं, उसको तुरंत गोदमें लेकर मस्तक सूँघने लगते हैं, हृदयसे लगाकर अभय कर देते हैं। रावणके भयसे व्याकुल विभीषणको आपने बड़े प्रेमसे अपने चरणोंमें रख लिया, पाण्डव-महिषी द्रौपदीके लिये आपने ही वस्त्रावतार धारण किया, गजराजकी पुकारपर आप ही पैदल दौड़े। ऐसा कौन पतित है, जो आपको पुकारनेपर भी आपकी दयादृष्टिसे वञ्चित रहा है? हे अभयदाता! मैं तो हर तरहसे आपकी शरण हूँ, आपका हूँ, मुझे अपनाइये प्रभो!

तू दयालु, दीन हौं, तू दानि, हौं भिखारी।
हौं प्रसिद्ध पातकी, तू पाप-पुंज-हारी॥
नाथ तू अनाथको, अनाथ कौन मोसो।
मो समान आरत नहिं आरतिहर तोसो॥
ब्रह्म तू, हौं जीव, तू है ठाकुर, हौं चेरो।
तात-मातु, गुरु-सखा, तू सब बिधि हितु मेरो॥
तोहिं मोहिं नाते अनेक, मानिये जो भावै।
ज्यों त्यों तुलसी कृपालु! चरन-सरन पावै॥

हे पतितपावन! हे आर्तत्राणपरायण! हे दयासिन्धो! बुरा, भला जो कुछ हूँ, सो आपका हूँ, अब तो आपकी शरण आ पड़ा हूँ, हे दीनके धन! हे अधमके आश्रय! हे भिखारीके दाता! मुझे और कुछ भी नहीं चाहिये। ज्ञान-योग, तप-जप, धन-मान, विद्या-बुद्धि, पुत्र-परिवार और स्वर्ग-पाताल किसी भी वस्तुकी या पदकी इच्छा नहीं है। आपका वैकुण्ठ, आपका परम धाम और आपका मोक्षपद मुझे नहीं चाहिये। एक बातकी इच्छा है, वह यह कि आप मुझे अपने गुलामोंमें गिन लीजिये, एक बार कह दीजिये कि 'तू मेरा है।' प्रभो! गोसाईंजीके शब्दोंमें मैं भी आपसे इसी अभिमानकी भीख माँगता हूँ—

अस अभिमान जाइ नहिं भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे॥

बस, इसी अभिमानमें डूबा हुआ जगत्‌में निर्भय विचरा करूँ और जहाँ जाऊँ, वहीं अपने प्रभुका कोमल करकमल सदा मस्तकपर देखूँ!—

हे स्वामी! अनन्य अवलम्बन! हे मेरे जीवन-आधार।
तेरी दया अहैतुकपर निर्भर कर आन पड़ा हूँ द्वार॥
जाऊँ कहाँ जगत्‌में तेरे सिवा न शरणद है कोई।
भटका, परख चुका सबको, कुछ मिला न अपनी पत खोई॥
रखना दूर रहा, कोईने मुझसे नजर नहीं जोड़ी।
भला किया, यथार्थ समझाया, सब मिथ्या प्रतीति तोड़ी॥
हुआ निरास उदास, गया विश्वास जगत्‌के भोगोंका।
प्रगट हो गया भेद सभी रमणीय विषय-सुख-रोगोंका॥
अब तो नहीं दीखता मुझको तेरे सिवा सहारा और।
जल-जहाजका कौआ जैसे पाता नहीं दूसरी ठौर॥
करुणाकर! करुणा कर सत्वर, अब तो दे मन्दिर-पट खोल।
बाँकी झाँकी नाथ! दिखाकर तनिक सुना दे मीठे बोल॥
गूँज उठे प्रत्येक रोममें परम मधुर वह दिव्य-स्वर!
हृत्तन्त्री बज उठे साथ ही मिला उसीमें अपना सुर॥
तन पुलकित हो, सुमन-जलजकी खिल जायें सारी कलियाँ।
चरण मृदुल बन मधुप उसीमें करते रहें रंगरलियाँ॥
हो जाऊँ उन्मत्त, भूल जाऊँ तन-मनकी सुधि सारी।
देखूँ फिर कण-कणमें तेरी छबि नव-नीरद घन प्यारी॥
हे स्वामिन्! तेरा सेवक बन, तेरे बल होऊँ बलवान।
पाप-ताप छिप जायें, हो भय भीत, मुझे तेरा जन जान॥

इस भावकी प्रार्थना प्रतिदिन करनेसे बड़ा भारी बल मिलता है। जब साधकके मनमें यह दृढ़ निश्चय हो जाता है कि मैं भगवान्‌का दास हूँ, भगवान् मेरे स्वामी हैं, तब वह निर्भय हो जाता है। फिर माया-मोहकी और पाप-

तापोंकी कोई शक्ति नहीं जो उसके सामने आ सकें। जब पुलिसका एक साधारण सिपाही भी राज्यके सेवकके नाते राज्यके बलपर निर्भय विचरता है और चाहे जितने बड़े आदमीको धमका देता है, तब जिसने अखिल-लोकस्वामी **'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थः'** भगवान्‌को अपने स्वामीरूपमें पा लिया है, उसके बलका क्या पार है? ऐसा भक्त स्वयं निर्भय हो जाता है और जगत्‌के भयभीत जीवोंको भी निर्भय बना देता है।

गृहस्थ-धर्म-विचार

गृहस्थाश्रम सब आश्रमोंमें श्रेष्ठ माना गया है। ब्रह्मचर्याश्रमके विधिपूर्वक पालन करनेके पश्चात् गृहस्थाश्रममें प्रवेश करना चाहिये, क्योंकि उस समयतक मनुष्यकी बुद्धि परिपक्व हो जाती है और शरीर बलवान्, वीर्यवान् एवं आरोग्य-सम्पन्न होता है, मन शुद्ध और सत्कार्योंकी ओर प्रवृत्त होता है। जैसे प्राणिमात्र वायुका आश्रय लेते हैं, वैसे सब आश्रमोंके लोग गृहस्थाश्रमियोंसे ही आश्रय पाते हैं—

यस्मात् त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहम्।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही॥

(मनु० ३। ७८)

अन्य तीनों आश्रमवालोंके पालन-पोषणका भार गृहस्थोंके कंधोंपर ही होता है। कमजोर कंधे इस भारको कैसे सँभाल सकते हैं। शास्त्र कहते हैं कि दुर्बलेन्द्रिय स्त्री-पुरुष इस आश्रमको धारण नहीं कर सकते। अतएव गृहस्थाश्रमको चलानेके लिये आवश्यक है कि स्त्री-पुरुष अपने शरीर और मनको खूब बलवान् तथा संयत बनायें, सांसारिक व्यवहारोंको उत्तम रीतिसे चलानेके लिये सामर्थ्य और विद्याबल प्राप्त करें। तभी शूरवीर और बुद्धिमान् संतान पैदा होगी एवं गृहस्थाश्रमका बोझ सँभालकर अन्य आश्रमोंकी सेवा की जा सकेगी। इस आश्रममें आकर मनुष्य सत्कर्म करता हुआ मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

स्त्री-पुरुषका जो वैवाहिक बन्धन है, उसीका नाम गृहस्थाश्रम है और उन दोनोंके एक होकर रहनेसे ही गृहस्थका काम सुचारुरूपसे संचालित होता रहता है।

गृहस्थाश्रममें स्त्री-पुरुषको कामवासनारहित प्रेम-भावसे संयतेन्द्रिय रहकर ज्ञानसहित संतानोत्पत्ति करनी चाहिये। वह गृह स्वर्गोपम है, जिसमें स्त्री-पुरुष एक-दूसरेसे प्रेमयुक्त व्यवहार करते हैं तथा दोनों ईश्वरीय प्राकृतिक नियमानुसार अपने कर्तव्यका पालन करते हैं। अन्यथा कामनासक्त होनेसे स्त्री-पुरुष-व्यवहारपर कोई प्रतिबन्ध नहीं रहता। स्त्री-पुरुष यदि संयमसे रहकर शुद्ध आचरण रखें तथा धार्मिक व्यवहार—ईश्वरभक्ति, धार्मिक पुस्तकोंके अध्ययन-पाठ, प्रवचन आदि करें तो मनोनिग्रह-धारणासे काममूलक समस्याका उन्मूलन हो सकता है। संयम ही सर्वोत्कृष्ट उपाय है। संयम अव्यावहारिक नहीं है। कृत्रिम साधनोंसे मन उच्छृंखल बनता है। मनकी उच्छृंखलतासे विषय-सेवनकी परिमिति नहीं रहती।

गृहस्थाश्रममें प्रवेश करनेके पश्चात् स्त्री-पुरुषको 'स्वधर्म'में रत रहते हुए एक-दूसरेका रक्षक बनकर रहना चाहिये, न कि इन्द्रियोंके क्षणिक सुखके वशीभूत होकर एक-दूसरेके भक्षक बन जायँ। अतएव हमें उचित है कि हम ज्ञानसहित अपनी शक्तिको पर्याप्तरूपमें संचित करें, अपनी आत्मा एवं उसके प्रकाशको बढ़ायें एवं पुरुषार्थके साथ प्राणिमात्रकी निःस्वार्थभावसे सेवा करते हुए अपने गार्हस्थ्य-जीवनको सुचारुरूपसे संचालित करते रहें। इसीमें मानव-जीवनका कल्याण है।

× × ×

पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने।
रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति॥

—इस श्लोकका अर्थ आजके समाज-स्वातन्त्र्यके युगमें लोग अपार्थ-दृष्टिसे करते हैं। पर इसका अर्थ ऐसा करना चाहिये कि कन्याकी रक्षा पिता, युवतीकी पति और माताकी पुत्र करता है। स्त्री स्वतन्त्र रहकर अपनी रक्षा नहीं कर सकती।

यह सत्य है कि स्त्री शक्तिरूपा है एवं शक्तिका स्रोत है। सारे संसारको शक्ति स्त्रीजातिसे ही मिलती है। पर

उसकी शक्तिकी देख-रेख रखना कौमारावस्थातक पिताका कर्तव्य है। दिन-प्रतिदिन उत्तरोत्तर उसकी शक्तिका विकास होता रहे, इसका भार पितापर है।

इसके बाद युवावस्थामें उसकी शक्तिकी देख-रेख रखना पतिका काम है। गृहस्थ-धर्मको सुचारुरूपसे संचालित एवं धर्मयुक्त संतानोत्पत्ति करते हुए उसकी शक्तिकी देख-रेख करना यानी उसकी शक्ति कहीं भी कम न हो जाय, इस बातका ध्यान रखना पतिका कर्तव्य है।

गृहस्थाश्रम समाप्त करनेके बाद उसकी शक्तिकी देख-रेख रखना और सेवा करना पुत्रका कर्तव्य है। उसकी शक्तिका जितना संचय रहेगा, उतना ही उसकी आत्माका विकास होगा एवं आत्माका प्रकाश बढ़नेसे उसको मोक्षकी प्राप्ति होगी। कम-से-कम पुनर्जन्ममें यह संचित शक्ति उसके लिये सहायक तो होगी ही।

शास्त्रोंने पितासे सहस्रगुना अधिक माताका सम्मान करना बतलाया है—

सहस्रं तु पितॄन्माता गौरवेणातिरिच्यते॥

धार्मिक दृष्टिसे चतुर्थाश्रमी यति सर्ववन्द्य है। गृहस्थ पिता भी संन्यासी पुत्रका वन्दन करता है, परंतु उस संन्यासीके लिये भी धर्मानुसार मातृवन्दना विहित है—

सर्ववन्द्येन यतिना प्रसूर्वन्द्या प्रयत्नतः॥

(स्क० पु०, काशी० ११। ५०)

पुरुष सदासे ही नारीको मातारूपमें पूज्य एवं मार्गदर्शिका मानता रहा है। पत्नीरूपमें प्राणोंसे भी अधिक प्रिय एवं हृदयेश्वरी बनाकर उसे अपना सर्वस्व समर्पण करके उसके रक्षण-पोषणके लिये, वस्त्राभरण जुटानेके लिये दिन-रात परिश्रम करता रहा है। इतना ही नहीं, नारीके संकेतपर ही पुरुष सब काम करता रहा है। प्रेमसे ही पुरुष स्त्रीको वशमें रख पाया है। प्रेमसे ही स्त्री भी पुरुषको अपने अनुकूल बनाती रही है। किन्हीं धार्मिक आध्यात्मिक संस्कारशून्य समाजके लोगोंमें स्त्रीको गलेमें रस्सी बाँधकर रखनेकी प्रथा हो सकती है, पर वह भारतमें कभी नहीं रही। स्त्रीका एक ही पुरुषके साथ सम्बन्ध शुद्ध धर्ममूलक ही है, धर्म-नियन्त्रित स्नेह एवं अर्थव्यवस्था उसका आनुषङ्गिक फल है। पशुओंकी अपेक्षा मनुष्योंकी मनुष्यता एवं विशेषता ही यह है कि मनुष्य प्रत्यक्ष-अनुमानसे अतिरिक्त आगम-प्रमाण भी मानता है और तदनुकूल वह धार्मिक होता है। पति-पत्नीके असाधारण सम्बन्धसे ही पत्नी, पुत्री, भगिनी, माता आदिकी असाधारण व्यवस्था होती है। तदनुकूल ही उत्तराधिकारकी व्यवस्था भी चलती है। इसीलिये आस्तिकोंका कहना है कि प्रत्यक्षानुमानाश्रित मति जहाँतक दौड़ती है, वहाँतक ही चलनेवाले 'वानर' आदि पशु होते हैं और प्रत्यक्षानुमानातिरिक्त आगमके अनुसार धार्मिक, आध्यात्मिक सामाजिक व्यवस्था करके चलनेवाले लोग ही 'नर' अर्थात् मानव होते हैं—

मतयो यत्र गच्छन्ति तत्र गच्छन्ति वानराः।
शास्त्राणि यत्र गच्छन्ति तत्र गच्छन्ति ते नराः॥

(तन्त्रवार्तिक)

आजकलके जडवादी लोग धर्मको न मानकर कहते हैं कि 'पातिव्रत्यधर्म' केवल व्यक्तिगत सम्पत्तिके आधारपर बना हुआ है। समाज तहस-नहस न हो जाय, इसीलिये एक ही पुरुषके साथ सम्बन्ध रखनेके लिये स्त्रीको समझा-बुझाकर राजी किया गया और तदनुसार ही धर्म, नीति, रिवाज गढ़े गये एवं स्त्रीकी स्वतन्त्रतामें धर्म और भगवान्‌के नाराज होनेका डर दिखलाया गया। इसके अतिरिक्त पातिव्रत्यका और कोई अर्थ नहीं है।

जडवादी इससे अधिककी आशा भी क्या कर सकते हैं? जिनकी दृष्टिमें 'विश्वका कारण सर्वज्ञ ईश्वर ही नहीं जँचता, जो भूत-प्रेतकी कल्पनाको ही परिष्कृतरूपमें ईश्वर-कल्पना समझते हैं, जिनके मतानुसार धर्म-कल्पना भीरु मस्तिष्कका फितूर मात्र है, वे सीता-सावित्री आदिके परम गम्भीर पातिव्रत्यधर्मको कैसे समझ सकते हैं? सीताका अग्नि दीप्त करके जीवित हो उठना, सावित्रीका यमराजसे अपने मृत पतिको पुनः प्राप्त कर लेना, शाण्डिलीका सूर्यनारायणके उदयपर प्रतिबन्ध लगा देना आदि जडवादी दृष्टिसे कोरी कल्पनाएँ मात्र ही हैं। आश्चर्य है कि परम सत्य आर्ष इतिहास तो नास्तिक जडवादियोंकी दृष्टिमें झूठे हैं, परंतु बंदरसे मनुष्य उत्पन्न होनेका निराधार विकासवादी इतिहास सत्य है। नास्तिक जडवादी सिवा अनर्गल प्रलापके और क्या कह सकते हैं? स्पष्ट है कि जिन्हें धर्म, सभ्यता, संस्कृति और पातिव्रत्य मान्य हैं, ऐसे स्त्री-पुरुषोंके लिये

आजकलके प्रेमोत्तरविवाह (लव मैरेज) इत्यादि ये सुधार तथा जडवादियोंकी नास्तिकता धर्म एवं मानवताके शत्रु ही हैं।

स्त्री सर्वदा ही लज्जाशील होती है, वह कभी अभियोगिनी नहीं होती। पुरुष ही स्वैरी होकर स्त्रीको स्वैरिणी बनाता है। जहाँ पुरुष स्वैरी न होगा, वहाँ स्त्री भी स्वैरिणी नहीं हो सकती। स्त्री पुरुषकी हृदयेश्वरी है, प्राणेश्वरी है, आत्मा है—सब कुछ है। उसके हिस्से एवं अधिकारकी बात जडवादी नास्तिकोंके द्वारा ही उठायी गयी है, उठायी जाती है। स्त्रीको पुरुषके बराबर बनानेका प्रयत्न करना उसका अपमान करना है, उसको हजार गुना नीचे उतारना है। विवाह करके परिवार-पालन करनेके उदात्त कर्तव्यको झगड़ा या झंझट समझनेकी प्रवृत्ति जडवादी उच्छृंखल-पंथियोंकी ही प्रेरणा है। स्त्री और पुरुष—सभी यदि नौकर-नौकरानी बनेंगे, तो उनकी संतानें भी अवश्य ही नौकर-मनोवृत्तिकी ही बनेंगी। माताका दूध न पाकर, जननीका लाड-प्यार, लालन-पालन न पाकर, डिब्बोंके दूध पीनेवाले बच्चे निम्नश्रेणीके ही होंगे। माता-पिताका भी बच्चोंमें कोई प्रेम न होगा, बच्चोंका भी माँ-बापके प्रति कुछ आकर्षण-अनुराग न होगा। पति-पत्नीका भी परस्पर स्थायी प्रेम न होनेसे किसी भी सम्बन्धकी स्थिरता न होगी। सभी सम्बन्ध वासना-तृप्ति और पैसेके कारण होंगे। विवाह और तलाककी अबाध परम्परा चलती ही रहेगी। इसको आज-कलकी सुधारणा कहें या कुधारणा, यह नहीं समझमें आता।

हमलोगोंका सुख और कल्याण हमारे कर्मोंपर निर्भर है। हमारी भारतीय वैदिक संस्कृतिका उद्देश्य भी लोककल्याण और परोपकार ही है। अतएव धर्मतः गृहस्थाश्रमका मुख्य कर्तव्य है—

यत्कृत्वानृण्यमाप्नोति दैवात् पित्र्याच्च मानुषात्।

—देवऋण, पितृऋण तथा मनुष्यऋण—इन तीनों ही ऋणोंसे मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त करना। ईश्वरसे हमलोगोंकी यही हार्दिक प्रार्थना है कि वे हमको सद्बुद्धि दें, जिससे हम अच्छे कामोंमें लगें, क्योंकि बिना सत्कर्मके हमारी कोई भी उन्नति नहीं हो सकती। भगवान् सन्मति दें।

गोवंश और हिन्दू जाति

(श्रीगणेशीलालजी)

गोघृत बिनु देवोंको कैसे, तुम संतुष्ट करोगे।
डूब मरोगे वैतरणीमें, गौ-बिनु नाहिं तरोगे॥
लोक और परलोक शान्ति-सुख जिस गौपर निर्भर है।
कैसी बीत रही है उसपर इसकी किसे फिकर है॥
मातासे भी ज्यादा जिस माताने दूध पिलाया।
कैसे हो सत्पुत्र मातृका ध्यान न तुमको आया॥
गोवध है जबतक दुख-पूरित सुख हमको न मिलेगा।
हीन बनेंगे हिन्दू प्रतिपल पीड़ित हिन्द रहेगा॥
गौएँ हैं आधार विश्वकी गोरक्षा जीवन है।
गौ बिनु क्या हिन्दुत्व रहेगा? गौसे हिन्दूपन है॥
तन मन धन सर्वस्व समर्पण गो-जननीपर कर दो।
गो-रक्षाकी वीर-भावना भारतभरमें भर दो॥
करो प्रतिज्ञा भारत-भूसे गोवध हटवा देंगे।
सुखी न होंगी जबतक गौएँ तबतक चैन न लेंगे॥

साधकोंके प्रति—

राजाका कर्तव्य

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

सामाजिक व्यवस्थापर समाजका अधिकार है, राजा (शासक या सरकार)-का अधिकार नहीं। अतः समाजके नियम बनाना राजाका कर्तव्य नहीं है। विवाह, व्यापार, जीविका, संतानोत्पत्ति, वर्णाश्रमधर्मका पालन आदि प्रजाके धर्म हैं। प्रजाके धर्मोंमें हस्तक्षेप करना राजाका कर्तव्य नहीं है। अगर राजा उनमें हस्तक्षेप करता है तो यह अन्याय है। राजाका मुख्य कर्तव्य है—प्रजाकी रक्षा करना और उससे बलपूर्वक धर्मका पालन करवाना।

कोई धर्मका उल्लंघन न करे, इसलिये धर्मका पालन करवाना राजाका अधिकार है। परंतु धर्मशास्त्रके विरुद्ध कानून बनाना राजाका घोर अन्याय है। हिन्दू एकसे अधिक विवाह न करे, अमुक उम्रमें विवाह करे, दोसे अधिक संतान पैदा न करे आदि कानून बनाना राजाका अधिकार नहीं है। राजाका कर्तव्य अपने राज्यमें जन्म लेनेवाले प्रत्येक व्यक्तिके जीवन-निर्वाहकी व्यवस्था करना है, न कि उसके जन्मपर ही रोक लगा देना। अपने धर्म, वर्ण, आश्रम, जाति आदिके अनुसार आचरण करना प्रजाका अधिकार है। अगर प्रजा धर्म, वर्णाश्रम आदिकी मर्यादाके विरुद्ध चले तो उसको शासनके द्वारा मर्यादामें लगाना राजाका कर्तव्य है।

एष राज्ञां परो धर्मो ह्यार्तानामार्तिनिग्रहः।

(श्रीमद्भा० १। १७। ११)

'राजाओंका परम धर्म यही है कि वे दुखियोंका दुःख दूर करें।'

राज्ञो हि परमो धर्मः स्वधर्मस्थानुपालनम्।
शासतोऽन्यान् यथाशास्त्रमनापद्युत्पथानिह॥

(श्रीमद्भा० १। १७। १६)

'बिना आपत्तिकालके मर्यादाका उल्लंघन करनेवालोंको शास्त्रानुसार दण्ड देते हुए अपने धर्ममें स्थित लोगोंका पालन करना राजाओंका परम धर्म है।'

य उद्धरेत्करं राजा प्रजा धर्मेष्वशिक्षयन्।
प्रजानां शमलं भुङ्क्ते भगं च स्वं जहाति सः॥

(श्रीमद्भा० ४। २१। २४)

'जो राजा प्रजाको धर्ममार्गकी शिक्षा न देकर केवल उससे कर वसूल करनेमें लगा रहता है, वह केवल प्रजाके पापका ही भागी होता है और अपने ऐश्वर्यसे हाथ धो बैठता है।'

श्रेयः प्रजापालनमेव राज्ञो
यत्साम्पराये सुकृतात् षष्ठमंशम्।
हर्तान्यथा हृतपुण्यः प्रजाना-
मरक्षिता करहारोऽघमत्ति॥

(श्रीमद्भा० ४। २०। १४)

'राजाका कल्याण प्रजापालनमें ही है। इससे उसे परलोकमें प्रजाके पुण्यका छठा भाग मिलता है। इसके विपरीत जो राजा प्रजाकी रक्षा तो नहीं करता, पर उससे कर वसूल करता जाता है, उसका सारा पुण्य प्रजा छीन लेती है और बदलेमें उसे प्रजाके पापका भागी होना पड़ता है।'

यस्य राष्ट्रे प्रजाः सर्वास्त्रस्यन्ते साध्व्यसाधुभिः।
तस्य मत्तस्य नश्यन्ति कीर्तिरायुर्भगो गतिः॥

(श्रीमद्भा० १। १७। १०)

'जिस राजाके राज्यमें दुष्टोंके उपद्रवसे सारी प्रजा त्रस्त रहती है, उस मतवाले राजाकी कीर्ति, आयु, ऐश्वर्य और परलोक नष्ट हो जाते हैं।'

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृपु अवसि नरक अधिकारी॥

(मानस, अयोध्या० ७१। ३)

प्रजाका शासक राजा होता है और राजाके शासक वीतराग संत-महात्मा होते हैं। धर्म और धर्माचार्यपर राजाका शासन नहीं चलता। उनपर शासन करना राजाका घोर अन्याय है। धर्म और धर्माचार्यका राजापर शासन होता है। यदि उनका राजापर शासन न हो तो राजा उच्छृंखल हो जाय! निर्बुद्धि राजा ही धर्म और धर्माचार्यपर शासन करता है, उनपर अपनी आज्ञा चलाता है; क्योंकि वह समझता है कि बुद्धि मेरेमें ही है! दूसरा भी कोई बुद्धिमान् है—यह बात उसको जँचती ही नहीं।

पहले हमारे देशमें राजालोग राज्य तो करते थे, पर सलाह ऋषि-मुनियोंसे लिया करते थे। कारण कि अच्छी सलाह वीतराग पुरुषोंसे ही मिल सकती है, भोगी पुरुषोंसे नहीं। इसलिये कानून बनानेका अधिकार वीतराग पुरुषोंको ही है। महाराज दशरथ और भगवान् राम भी प्रत्येक कार्यमें

वसिष्ठजीसे सम्मति लेते थे और उनकी आज्ञासे सब काम करते थे। परंतु आजकलके शासक संतोंसे सम्मति लेना तो दूर रहा, उल्टे उनका तिरस्कार, अपमान करते हैं। जो शासक खुद वोटोंके लोभमें, स्वार्थमें लिप्त है, उसके बनाये हुए कानून कैसे ठीक होंगे? धर्मके बिना नीति विधवा है और नीतिके बिना धर्म विधुर है। अतः धर्म और राजनीति—दोनों साथ-साथ होने चाहिये, तभी शासन बढ़िया होता है। बढ़िया शासनका नमूना महाराज अश्वपतिके इन वचनोंसे मिलता है—

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः।
नानाहिताग्निर्नाविद्वान्न स्वैरी स्वैरिणी कुतः॥

(छान्दोग्य० ५। ११। ५)

'मेरे राज्यमें न तो कोई चोर है, न कोई कृपण है, न कोई मदिरा पीनेवाला है, न कोई अनाहिताग्नि (अग्निहोत्र न करनेवाला) है, न कोई अविद्वान् है और न कोई परस्त्रीगामी ही है, फिर कुलटा स्त्री (वेश्या) तो होगी ही कैसे?'

जो वोटोंके लिये आपसमें लड़ते हैं, कपट करते हैं, हिंसा करते हैं, लोगोंको रुपये दे-देकर, फुसला-फुसलाकर वोट लेते हैं, उनसे क्या आशा रखी जाय कि वे न्याययुक्त राज्य करेंगे? नेतालोग वोट लेने तो आ जाते हैं, पर वोट मिलनेके बाद सोचते ही नहीं कि लोगोंकी क्या दशा हो रही है? वोट लेनेके लिये तो खूब मोटरें दौड़ायेंगे, तेल फूँकेंगे, लाखों-करोड़ों रुपये खर्च करेंगे, अपना और लोगोंका समय बरबाद करेंगे, पर वोट मिलनेके बाद आकर पूछेंगे ही नहीं कि भाई, तुम लोगोंकी सहायतासे हमें वोट मिले हैं, तुम्हारे घरमें कोई तकलीफ तो नहीं है? तुम्हारा जीवन-निर्वाह कैसा हो रहा है? पहले राजालोग शासन करते थे तो वे राज्यकी सम्पत्तिको अपनी न मानकर प्रजाकी ही मानते थे और उसको प्रजाके ही हितमें खर्च करते थे। प्रजाके हितके लिये ही वे प्रजासे कर लेते थे। सूर्यवंशी राजाओंके विषयमें महाकवि कालिदास लिखते हैं—

प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत्।
सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः॥

(रघुवंश १। १८)

'वे राजालोग अपनी प्रजाके हितके लिये प्रजासे उसी प्रकार कर लिया करते थे, जिस प्रकार सहस्रगुना करके बरसानेके लिये ही सूर्य पृथ्वीसे जल लिया करता है।'

जब राजाओंमें स्वार्थभाव आ गया और वे प्रजाकी सम्पत्तिका खुद उपभोग करने लगे, तब उनका परम्परासे अरबों वर्षोंसे चला आया राज्य भी नहीं रहा। आज झूठ-कपट आदिके बलपर जीतकर आये हुए नेतालोग सोचते हैं कि हमें तो पाँच वर्षोंतक कुर्सीपर रहना है, आगेका कोई भरोसा नहीं; अतः जितना संग्रह करके लाभ उठा सकें, उतना उठा लें, देश चाहे दरिद्र हो जाय। वे यह सोचकर नीति-निर्धारण करते हैं कि धनियोंका धन कैसे नष्ट हो? यह नहीं सोचते कि सब-के-सब धनी कैसे हो जायँ? महाभारतमें आया है—

यथा मधु समादत्ते रक्षन् पुष्पाणि षट्पदः।
तद्वदर्थान्मनुष्येभ्य आदद्यादविहिंसया॥

(महा०, उद्योग० ३४। १७)

'जैसे भौंरा फूलोंकी रक्षा करता हुआ ही उनके मधुको ग्रहण करता है, उसी प्रकार राजा भी प्रजाको कष्ट दिये बिना ही उनसे धन (कर) ग्रहण करे।'

परंतु आज सरकार धनियोंका धन छीननेके लिये उनके घरों और दूकानोंमें छापा मारती है, जो कि डाका डालना ही है, और धनी लोग टैक्ससे बचनेके लिये तरह-तरहकी बेईमानी सीखते हैं। दोनों ही देशका हित नहीं सोचते कि इस नीतिसे भविष्यमें देशकी क्या दशा होगी? सरकार धनियोंसे जबर्दस्ती धन लेनेकी चेष्टा करेगी तो धनियोंके भीतर भी जबर्दस्ती धन छिपानेका भाव पैदा होगा। इसलिये सरकारको चाहिये कि वह धनियोंका धन न छीनकर उनके भीतर उदारताका, परोपकारका भाव जाग्रत् करे। यह भाव वीतराग पुरुषोंके द्वारा ही जाग्रत् किया जा सकता है।

वर्तमान राजनीति संघर्ष पैदा करनेवाली है। हमें वोट दो, दूसरी पार्टीको वोट मत दो, वह ठीक नहीं है—इससे संघर्ष पैदा होता है। वोट-प्रणालीमें मूर्खताकी प्रधानता है। जिस समाजमें मूर्खोंकी प्रधानता होती है, वहीं वोट-प्रणाली लागू की जाती है। महात्मा गाँधीका भी एक वोट और भेड़ चरानेवालेका भी एक वोट! सज्जन पुरुषका भी एक वोट और दुष्ट पुरुषका भी एक वोट! यह समानता मूर्खोंमें ही होती है। ***'अँधेर नगरी चौपट राजा, टके सेर भाजी टके सेर खाजा।'*** वोट-प्रणालीमें भी बेईमानी होती है। जिनके हाथमें सत्ता होती है, वे वोट-प्रणालीका खूब दुरुपयोग करते हैं। वोट प्राप्त करनेके लिये विधर्मियोंका पक्ष लेते हैं,

समाजकण्टकोंका पक्ष लेते हैं, अपराधियोंका सहारा लेते हैं। ये बातें किसीसे छिपी नहीं हैं।

वास्तवमें वोट देनेका, सरकार चुननेका अधिकार केवल उन्हीं पुरुषोंको है, जो सच्चे समाजसेवक, त्यागी, धर्मात्मा, सदाचारी, परोपकारी हैं। उनमें भी विशेष अधिकार जीवन्मुक्त, तत्त्वज्ञ महापुरुषोंको है। माँ कोई कार्य करती है तो बालककी सलाह नहीं लेती; क्योंकि बालक मूर्ख (बेसमझ) होता है। परंतु वोट देनेकी वर्तमान प्रणालीके अनुसार यदि बुद्धिमानोंकी संख्या निन्यानबे है और मूर्खोंकी संख्या सौ है तो एक वोट अधिक होनेसे मूर्ख जीत जायँगे, बुद्धिमान् हार जायँगे, जबकि वास्तवमें सौ मूर्ख मिलकर भी एक बुद्धिमान्‌की बराबरी नहीं कर सकते*। वर्तमान वोट-प्रणालीके अनुसार जिसकी संख्या अधिक होती है, वह जीत जाता है और राज्य करता है, और जिसकी संख्या कम होती है, वह हार जाता है। विचार करें, समाजमें विद्वानोंकी संख्या अधिक होती है या मूर्खोंकी? सज्जनोंकी संख्या अधिक होती है या दुष्टोंकी? ईमानदारोंकी संख्या अधिक होती है या बेईमानोंकी? अध्यापकोंकी संख्या अधिक होती है या विद्यार्थियोंकी? जिनकी संख्या अधिक होगी, वे ही वोटोंसे जीतेंगे और देशपर शासन करेंगे, फिर देशकी क्या दशा होगी—विचार करें!

आयुर्वेदमें धर्म-निरूपण

(आयुर्वेदाचार्य वैद्य श्रीवासुदेवजी मिश्र, शास्त्री)

आयुर्वेद शास्त्र वेद-विद्याका मुख्य अङ्ग है। यह शास्त्र शरीरकी बाह्याभ्यन्तर-शुद्धि एवं पवित्रतापर विशेष बल देते हुए उसे दीर्घ जीवन प्रदान कर सत्कर्मानुष्ठानद्वारा भगवत्प्राप्तितक पहुँचा देता है। युक्त-आहार-विहार, सद्विचार एवं धर्माचरण तथा यम-नियमोंके सेवनद्वारा सदा स्वस्थ एवं प्रसन्न बने रहकर परोपकारकी शिक्षा देता है। आयुर्वेदशास्त्रके परिष्कर्ता आचार्य चरक आदि महात्मा सदा धर्मका ही आचरण रखते थे, इसीलिये वे दीर्घजीवी होकर अमरताको प्राप्त हुए। इस प्रकार धर्मशास्त्र जिस धर्माचरणका उपदेश करता है, शब्दान्तरसे आयुर्वेद भी उसी विषयका प्रतिपादन करता है, अतः दोनोंका परस्पर अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है।

'**शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्**' इस वचनसे स्पष्ट होता है कि धर्म-साधनके लिये स्वस्थ शरीरकी विशेष आवश्यकता है। शार्ङ्गधरसंहितामें कहा गया है—

धर्मार्थकाममोक्षाणां शरीरं साधनं मतः।
अतो रुग्भ्यस्तनुं रक्षेन्नरः कर्मविपाकतः॥

अर्थात् धर्मादि चतुर्विध पुरुषार्थोंका आधार शरीर ही है, अतः रुग्ण शरीरकी सदा रक्षा करनी चाहिये। रोग भी मूलतः पापकर्मोंके ही परिणाम हैं, इसलिये सदा सत्कर्मोंका ही सेवन करना चाहिये।

महर्षि चरक स्पष्ट उद्घोष करते हैं—

धर्मार्थं नार्थकामार्थमायुर्वेदो महर्षिभिः।
प्रकाशितो धर्मपरैरिच्छद्भिः स्थानमक्षरम्॥

अर्थात् अविनाशी परम पद प्राप्त करनेकी अभिलाषा रखनेवाले धर्मपरायण महर्षियोंने धर्म-लाभकी दृष्टिसे ही आयुर्वेदको प्रकाशित किया है, न कि अर्थ तथा काम-प्राप्ति करनेकी इच्छासे। महाभारतमें भी कहा गया है—

एकतः क्रतवः सर्वे सहस्रवरदक्षिणाः।
अन्यतो रोगभीतानां प्राणिनां प्राणरक्षणम्॥

अर्थात् एक ओर उत्तमोत्तम हजारों दक्षिणाओंवाले यज्ञ कर लो और दूसरी ओर रोगपीड़ित प्राणियोंकी प्राण-रक्षा कर लो तो इन दोनोंमें प्राण-रक्षा-रूप धर्म ही श्रेष्ठ है।

स्कन्दपुराणमें कहा गया है कि—

धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं साधनं यतः।
तस्मादारोग्यदानेन यद्दत्तं स्याच्चतुष्टयम्॥

अर्थात् धर्म, अर्थ और काम तथा मोक्ष—इन सबका साधन आरोग्य ही है, अतः आरोग्यदान सर्वश्रेष्ठ है।

महर्षि चरकने सूत्रस्थानके ग्यारहवें तिस्रैषणीय अध्यायमें स्पष्ट किया है कि सब कुछ प्राप्त करनेकी इच्छा रखनेवालोंको इन तीन एषणाओंको प्रधानता देनी होगी—(१) प्राणैषणा, (२) धनैषणा, (३) परलोकैषणा।

सर्वप्रथम प्राणैषणा कहनेका उद्देश्य स्पष्ट है कि बिना

*चन्दनकी चुटकी भली, गाड़ी भलौ न काठ। बुद्धिवान एकहि भलौ, मूरख भलौ न साठ॥

प्राणोंके कुछ भी प्राप्त करना असम्भव है। वह भी स्वस्थ शरीरसे ही प्राप्त किया जा सकता है।

दूसरी धनैषणा कहनेका तात्पर्य है कि सांसारिक कार्योंके लिये धनकी एषणा भी समुचित है। धनार्जन भी धर्मानुकूल ही होना चाहिये। जो कार्य सत्पुरुषोंद्वारा विहित हैं, उन्हींका अनुष्ठान करना चाहिये।

तीसरी परलोकैषणाका चरम उद्देश्य बताते हुए स्पष्ट कहा गया है कि हमारे इस जन्ममें धर्म-प्रतिपादित कार्योंका ही प्रतिफल है स्वर्गादिकी प्राप्ति। जिसे हम आलस्यका परित्याग कर भोग-विलाससे दूर रहकर सदाचरणकी ओर अपनी प्रवृत्तिको बढ़ाकर प्राप्त कर सकते हैं। किन पुरुषोंका आचरण अनुपालनीय है, कौन श्रेष्ठ पुरुष हैं, कौन शिष्ट, सदाचारी कहलाते हैं और आप्त पुरुष कौन हैं, किनके वचन प्रामाण्य हैं, इस विषयमें महर्षि चरक कहते हैं—

रजस्तमोभ्यां निर्मुक्तास्तपोज्ञानबलेन ये।
येषां त्रैकालममलं ज्ञानमव्याहतं सदा॥
आप्ताः शिष्टा विबुद्धास्ते तेषां वाक्यमसंशयम्।
सत्यं वक्ष्यन्ति ते कस्मादसत्यं नीरजस्तमाः॥

(सूत्रस्थान ११। ६)

तात्पर्य यह है कि रज और तमसे निर्मुक्त तथा तपस्या एवं ज्ञानसे सम्पन्न त्रिकालदर्शी महात्मा सत्य ही कहेंगे, वे असत्य क्यों कहेंगे। वस्तुतः हमारे धर्माचरणका प्रथम सोपान सदाचार ही है, जिसका उपदेश चरकसंहितामें विशदरूपसे वर्णित है।

महर्षि चरक अपनी चरकसंहिता (सूत्रस्थान अ० ८)-में सदाचारका धर्मोपदेश करते हुए कहते हैं—

देवगोब्राह्मणगुरुवृद्धसिद्धाचार्यानर्चयेत् ।

अर्थात् देवता,गाय, ब्राह्मण, गुरु, वृद्धजन, सिद्ध-साधु-संत-महात्मा तथा आचार्यों—श्रेष्ठ महापुरुषोंकी सेवा करे, पूजा करे, ये सब पूज्य हैं। '**अग्निमनुचरेत्**'—अग्निकी उपासना करे। '**द्वौ कालावुपस्पृशेत्**'—प्रातः-सायं दोनों कालोंमें स्नान, संध्या-वन्दन, गायत्री-जप करे। '**साधुवेशः**'—अपना वेश साधु पुरुषोंके समान रखे, उद्दण्ड या उच्छृंखल वेष धारण न करे। '**पूर्वाभिभाषी**'—किसी अभ्यागत अथवा मान्य, पूज्य, मित्र, बन्धु-बान्धव या परिजन आदिको देखकर मधुर वाणीमें पहले ही उससे कुशल-समाचार आदि पूछकर शीलवान् बने। '**होता यष्टा दाता**'—बलिवैश्वादि नित्य-कर्म करे, देवपूजन करे; ब्राह्मण, दीन, दुःखी आदिकी धनादिसे सेवा करे। '**अतिथीनां पूजकः**'—अतिथियोंका पूजन करे। '**पितृणां पिण्डदः**'—श्राद्धादि कर्म करे। '**काले हितमितमधुरार्थवादी**'—यथासमय हितकर, मधुर, मनको प्रिय लगनेवाली, अर्थयुक्त वाणी बोले। '**वश्यात्मा**'—जितेन्द्रिय बने। '**धर्मात्मा**'—धर्मात्मा बने। '**क्षमावान्**'—सभी प्राणियोंके साथ क्षमाका आचरण करे, हिंसक न बने। '**आस्तिकः**'—वेद-शास्त्रादिके वचनों, संत-महात्माके वचनोंमें पूर्ण विश्वास रखे, ईश्वरको माने। '**मङ्गलाचारशीलः**'—सदा माङ्गलिक आचरणका सेवन करे। '**सर्वप्राणिषु बन्धुभूतः स्यात्**'—सभी प्राणियोंका बन्धु बने—मित्र बने, किसीसे वैर न करे। '**दीनानामभ्युपपत्ता**'—दीनजनोंका उपकारवान् बने। '**सत्यसन्धः**'—हमेशा सत्य ही बोले। '**सामप्रधानः**'—दूसरोंके अथवा शत्रुओंके भी परुष वचनोंको सहन करनेवाला बने अर्थात् अत्यन्त सहिष्णु बने। '**न कुर्यात् पापम्**'—पाप-कर्म न करे। '**नाधार्मिकैः सहासीत**'—अधार्मिकोंकी संगति न करे।

भोजनके विषयमें आयुर्वेद पूर्ण धर्माचरणका निर्देश देता है—

नास्नातो नोपहतवासा नाजपित्वा नाहुत्वा देवताभ्यो नानिरूप्य पितृभ्यो नादत्त्वा गुरुभ्यो नातिथिभ्यो नोपाश्रितेभ्यो नाप्रक्षालितपाणिपादवदनो नाशुद्धमुखो न विमना नादत्त्वाऽग्र-मग्नये नाप्रोक्षितम्। इत्यादि।

बिना स्नान किये, बिना स्वच्छ-धुला वस्त्र धारण किये, बिना जप किये, बिना होम किये, बिना देवताओंके निवेदन किये, पितरों, गुरुओं, अतिथियों तथा सेवकोंको दिये बिना, मुख, हाथ-पैर बिना धोये, अशुद्धमुख एवं बेमन तथा बिना अग्निको समर्पित किये और बिना प्रोक्षण किये भोजन न करे।

महर्षि चरकके धर्मविषयक अन्य उपदेश भी पालनीय हैं। जैसे—'**न नियमं भिन्द्यात्**'—ग्रहण किये गये नियमका त्याग न करे। '**न ब्राह्मणान् परिवदेत्**'—ब्राह्मणोंका अपमान न करे। '**न गवां दण्डमुद्यच्छेद्**'—गायको डंडेसे न मारे। '**नेन्द्रियवशगः स्यात्**'—इन्द्रियोंके वशमें न हो। '**न चञ्चलं मनोऽनुभ्रामयेत्**'—मनको भ्रमित न होने दे।

इस प्रकार आयुर्वेदशास्त्र धर्माचरणकी ही सत्-शिक्षा प्रदान करता है। ये उपदेश सर्वदा ग्राह्य एवं अनुपालनीय हैं और परम हितकर हैं।

धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः—

प्रजापतिस्मृति

पूर्वकालमें रुचि नामके एक महात्मा हुए, जो प्रजापति-पदपर अधिष्ठित हुए। इन्हीं रुचि प्रजापतिके नामसे 'प्रजापतिस्मृति' प्रसिद्ध हुई। पुराणोंमें महात्मा रुचिका बड़े ही विस्तारसे उज्ज्वल दिव्य चरित्र प्राप्त होता है, उसे संक्षेपमें यहाँ दिया जा रहा है—

प्राचीन कालकी बात है, प्रजापति रुचि निवृत्तिमार्गका आश्रय लेकर स्वाध्याय, जप, तप-योगकी साधनामें निरत रहते थे। वे सब प्रकारकी आसक्तियोंसे सर्वथा दूर रहकर ब्रह्मचिन्तनमें निमग्न रहते थे। उनकी ऐसी मुनिवृत्ति देखकर उनके पितरोंने उनसे गृहस्थ-धर्म स्वीकार करनेको कहा, किंतु महात्मा रुचिने मोक्षमार्गको ही विशेष श्रेयस्कर बताया। तब पितरोंने उन्हें बहुत समझाया और कहा कि 'यदि तुम हमारी बात नहीं मानोगे तो हमलोगोंका पतन हो जायगा और तुम्हारी भी अधोगति होगी।' ऐसा कहकर पितर अदृश्य हो गये। पितरोंकी बात सुनकर रुचिका मन बहुत उद्विग्न हो गया। तब उन्होंने निश्चय किया कि 'मैं तपस्याद्वारा ब्रह्माजीको प्रसन्न करूँगा।' ऐसा निश्चय करके उन्होंने सौ वर्षोंतक कठोर तपस्या की। उनकी आराधनासे प्रसन्न हो ब्रह्माजीने उन्हें दर्शन दिया और कहा—'रुचे! मैं तुम्हारी तपस्यासे बहुत प्रसन्न हूँ, तुम्हारी जो इच्छा हो, माँग लो।' तब रुचिने पितरोंद्वारा कही गयी सारी बात उन्हें बता दी और गार्हस्थ्यधर्म ग्रहण करनेकी अभिलाषा भी प्रकट की। ब्रह्माजीने प्रसन्न होकर कहा—'विप्रवर! तुम प्रजापति होओगे, तुमसे प्रजाकी सृष्टि होगी। प्रजाकी सृष्टि और धर्माचरणपूर्वक तुम उनका पालन-पोषण करोगे तथा अन्तमें तुम्हें उत्तम गति प्राप्त होगी। अब तुम स्त्री-प्राप्तिकी अभिलाषा लेकर पितरोंका पूजन करो। वे ही प्रसन्न होकर तुम्हें मनोवाञ्छित पत्नी और पुत्र प्रदान करेंगे, भला पितर संतुष्ट हो जायँ तो वे क्या नहीं दे सकते।' इतना कहकर ब्रह्माजी चले गये और तब रुचिने नदीके एकान्त-तटपर पितरोंका तर्पण किया और अनेक प्रकारकी स्तुतियोंसे उनकी प्रार्थना की। रुचिके भक्तिपूर्वक स्तुति करते ही रुचिके समक्ष एक बड़ा तेजःपुञ्ज प्रकट हुआ—जो सम्पूर्ण आकाशमें व्याप्त था। उस उद्दीप्त प्रकाशमण्डलको देखकर रुचिने पृथ्वीपर घुटने टेक दिये और पितरोंकी प्रसन्नताके लिये बड़ी ही भावपूर्ण स्तुति प्रारम्भ की[१]। रुचिद्वारा स्तुति किये जानेपर उस प्रकाशमण्डलसे पितर प्रकट हुए और रुचिसे वर माँगनेको कहा। इसपर रुचिने बड़े ही विनयपूर्वक कहा—'पितरो! ब्रह्माजीने मुझे सृष्टि करनेका आदेश दिया है, इसलिये मैं दिव्यगुणोंसे सम्पन्न उत्तम पत्नी चाहता हूँ।' पितर बोले—'वत्स! हम तुम्हारी भक्तिसे प्रसन्न हैं, तुम्हें यहीं इसी समय उत्तम पत्नीकी प्राप्ति होगी, जिससे तुम्हें श्रेष्ठ 'मनु' नामक पुत्र प्राप्त होगा, जो तुम्हारे ही नामपर तीनों लोकोंमें 'रौच्यमनु' के नामसे विख्यात होगा। उसके

१-महात्मा रुचिद्वारा पितरोंके लिये की गयी स्तुति अत्यन्त महत्त्वकी है। पितरोंकी प्रसन्नताके लिये श्राद्धादि-अवसरों अथवा अन्य समयोंमें भी इस स्तुतिके पाठसे प्रसन्न होकर पितर अपने पुत्र-पौत्रोंका सर्वविध कल्याण कर देते हैं, उस स्तुतिका एक अंश यहाँ दिया जा रहा है—

रुचिरुवाच

अर्चितानाममूर्तानां पितृणां दीप्ततेजसाम्। नमस्यामि सदा तेषां ध्यानिनां दिव्यचक्षुषाम्॥
इन्द्रादीनां च नेतारो दक्षमरीचयोस्तथा। सप्तर्षीणां तथान्येषां तान् नमस्यामि कामदान्॥
मन्वादीनां मुनीन्द्राणां सूर्याचन्द्रमसोस्तथा। तान् नमस्याम्यहं सर्वान् पितृनप्सूदधावपि॥
नक्षत्राणां ग्रहाणां च वाय्वग्न्योर्नभसस्तथा। द्यावापृथिव्योश्च तथा नमस्यामि कृताञ्जलिः॥
देवर्षीणां जनितृंश्च सर्वलोकनमस्कृतान्। अक्षय्यस्य सदा दातृन् नमस्येऽहं कृताञ्जलिः॥
प्रजापतेः कश्यपाय सोमाय वरुणाय च। योगेश्वरेभ्यश्च सदा नमस्यामि कृताञ्जलिः॥
नमो गणेभ्यः सप्तभ्यस्तथा लोकेषु सप्तसु। स्वयम्भुवे नमस्यामि ब्रह्मणे योगचक्षुषे॥
सोमाधारान् पितृगणान् योगमूर्तिधरांस्तथा। नमस्यामि तथा सोमं पितरं जगतामहम्॥
अग्निरूपांस्तथैवान्यान् नमस्यामि पितृनहम्। अग्नीषोममयं विश्वं यत एतदशेषतः॥
ये तु तेजसि ये चैते सोमसूर्याग्निमूर्तयः। जगत्स्वरूपिणश्चैव तथा ब्रह्मस्वरूपिणः॥
तेभ्योऽखिलेभ्यो योगिभ्यः पितृभ्यो यतमानसः। नमो नमो नमस्ते मे प्रसीदन्तु स्वधाभुजः॥

भी अनेक पराक्रमी, बलशाली, गुणवान् धर्मात्मा पुत्र होंगे, जो इस पृथ्वीका पालन करेंगे और तुम प्रजापति कहलाओगे।' ऐसा वर देकर पितर अदृश्य हो गये।

उसी समय नदीके मध्यसे प्रम्लोचा नामक एक दिव्य अप्सरा अपनी कन्याके साथ प्रकट हुई और महात्मा रुचिसे मधुर वाणीमें बोली—'तपोधन! यह मेरी उत्तम कन्या है, इसका नाम 'मालिनी' है, इसे आप अपनी पत्नीरूपमें स्वीकार करें, इससे आपको एक सर्वोत्तम पुत्रकी प्राप्ति होगी, जो 'रौच्यमनु' के नामसे विख्यात होगा।' रुचिको पितरोंकी बात सच्ची जान पड़ी। तब उन्होंने 'तथास्तु' कहकर 'मालिनी' को अनेक महर्षियोंके साक्ष्यमें स्त्रीरूपमें स्वीकार किया। उसी मालिनीसे 'रौच्यमनु'का आविर्भाव हुआ, जो तेरहवें 'रौच्य' मन्वन्तरके अधिपति हुए।

इस प्रकार महात्मा रुचिका दिव्य चरित्र अनेक शिक्षाओंसे भरा पड़ा है। अपनी प्रजाओंके निमित्त उन्होंने जो उपदेश प्रदिष्ट किये, वे 'प्रजापतिस्मृति'के नामसे विख्यात हुए। चूँकि प्रजापति रुचि पितरोंके अनन्य भक्त थे, उनकी दृष्टिमें देवताओंसे भी पितरोंकी अधिक महिमा एवं शक्ति-सामर्थ्य है, अतः अपनी 'प्रजापतिस्मृति'में उन्होंने पितरोंकी प्रसन्नताके लिये तर्पण एवं श्राद्ध करनेका विशेष परामर्श दिया है और इस स्मृतिमें आद्योपान्त श्राद्ध-प्रक्रियाका ही विधि-विधान विवेचित है।

उपलब्ध 'प्रजापतिस्मृति'में २०० के आस-पास श्लोक हैं। इसके वक्ता ब्रह्माजी हैं और श्रोता हैं रुचि प्रजापति। इसके आरम्भमें ही महात्मा रुचि ब्रह्माजीसे प्रार्थनापूर्वक कहते हैं कि 'हे ब्रह्मन्! मैंने पितरोंकी आज्ञासे तथा आपके अनुग्रहसे गृहस्थधर्म स्वीकार किया है और अपनी पत्नी प्रम्लोचाकी पुत्री मालिनीके साथ मैंने यद्यपि अनेक तीर्थोंमें भ्रमण किया, वहाँ पितरोंके निमित्त अनेक प्रकारके श्राद्धादि कर्मोंका सम्पादन किया है, किंतु हे देवदेव! श्राद्धका इतना विस्तार है कि कहीं-कहीं उसकी क्रियामें अज्ञानके कारण संशय होने लगता है। आप तो सम्पूर्ण वेदादि शास्त्रोंके पारगामी हैं, श्राद्धके विषयमें सब कुछ जाननेवाले हैं, अतः श्राद्धक्रियामें कोई संशय न रह जाय, इसलिये आप मुझे सम्पूर्ण श्राद्धकल्पका उपदेश देनेकी कृपा करें।'

महात्मा रुचिके इस प्रकार निवेदन करनेपर ब्रह्माजीने जो 'श्राद्धकल्प' उन्हें बतलाया, वह 'प्रजापतिस्मृति'के नामसे विख्यात हुआ। मुख्यरूपसे इसमें श्राद्धका काल, श्राद्धकर्ताके कर्तव्य, श्राद्ध-द्रव्य, श्राद्ध-देश, श्राद्ध-पाककर्ता, ब्राह्मण-निमन्त्रण, श्राद्धके योग्य ब्राह्मण, श्राद्धके नियम, श्राद्धमें प्रयुक्त होनेवाले पदार्थ, श्राद्धके पात्र, श्राद्ध-सम्बन्धी भोजन, श्राद्धके देवता, श्राद्धोंके विविध मन्त्र, पितरोंका आवाहन, आसन, अर्घ, होम, पात्रालम्भन, ब्राह्मण-भोजन, पिण्डदान, पितरोंकी प्रार्थना तथा उनसे क्षमापन और श्राद्धके बादकी क्रियाएँ आदि बातें निरूपित हैं।

प्रारम्भमें श्राद्ध-काल बताते हुए कहा गया है कि तिथिके क्षय एवं वृद्धि होनेपर, सूर्य तथा चन्द्रग्रहणमें, युगादि-तिथियोंमें (वैशाख मासकी शुक्ल-तृतीया—अक्षयतृतीया, कार्तिक मासकी शुक्ल-नवमी—अक्षयनवमी, माघमासकी पूर्णिमा और भाद्रपदमासके शुक्लपक्षकी त्रयोदशी—ये चार तिथियाँ सत्य, त्रेता आदि चार युगोंकी तिथियाँ हैं), महालयमें, अमावास्यामें, तीर्थमें, विशेष पर्वोपर, संक्रान्ति, वैधृति, व्यतिपात आदि योगोंमें, अष्टका-अन्वष्टकामें तथा मन्वादि तिथियों एवं व्रत आदिमें श्राद्ध अवश्य करना चाहिये।

रुचि बोले—जो सबके द्वारा पूजित, अमूर्त, अत्यन्त तेजस्वी, ध्यानी तथा दिव्यदृष्टिसम्पन्न हैं, उन पितरोंको मैं सदा नमस्कार करता हूँ। जो इन्द्र आदि देवताओं, दक्ष, मरीचि, सप्तर्षियों तथा दूसरोंके भी नेता हैं, कामनाकी पूर्ति करनेवाले उन पितरोंको मैं प्रणाम करता हूँ। जो मनु आदि राजर्षियों, मुनीश्वरों तथा सूर्य और चन्द्रमाके भी नायक हैं, उन समस्त पितरोंको मैं जल और समुद्रमें भी नमस्कार करता हूँ। नक्षत्रों, ग्रहों, वायु, अग्नि, आकाश और द्युलोक तथा पृथ्वीके भी जो नेता हैं, उन पितरोंको मैं हाथ जोड़कर प्रणाम करता हूँ। जो देवर्षियोंके जन्मदाता, समस्त लोकोंद्वारा वन्दित तथा सदा अक्षय फलके दाता हैं, उन पितरोंको मैं हाथ जोड़कर प्रणाम करता हूँ। प्रजापति, कश्यप, सोम, वरुण तथा योगेश्वरोंके रूपमें स्थित पितरोंको सदा हाथ जोड़कर प्रणाम करता हूँ। सातों लोकोंमें स्थित सात पितृगणोंको नमस्कार है। मैं योगदृष्टिसम्पन्न स्वयम्भू ब्रह्माजीको प्रणाम करता हूँ। चन्द्रमाके आधारपर प्रतिष्ठित तथा योगमूर्तिधारी पितृगणोंको मैं प्रणाम करता हूँ। साथ ही सम्पूर्ण जगत्के पिता सोमको नमस्कार करता हूँ तथा अग्निस्वरूप अन्य पितरोंको भी प्रणाम करता हूँ; क्योंकि यह सम्पूर्ण जगत् अग्नि और सोममय है। जो पितर तेजमें स्थित हैं, और चन्द्रमा, सूर्य एवं अग्निके रूपमें दृष्टिगोचर होते हैं तथा जो जगत्स्वरूप और ब्रह्मस्वरूप हैं, उन सम्पूर्ण योगी पितरोंको मैं एकाग्रचित्त होकर प्रणाम करता हूँ। उन्हें बारंबार नमस्कार है। वे स्वधाभोजी पितर मुझपर प्रसन्न हों।

नान्दीमुख-श्राद्धकी प्रशस्ति तथा उसके फलका वर्णन करते हुए कहा है कि नान्दीमुख-श्राद्ध करनेसे प्रसन्न होकर पितर आरोग्य, सुयश, सभी प्रकारके सौख्य, ऐश्वर्य एवं संतान प्रदान करते हैं—

तस्यारोग्यं यशः सौख्यं विवर्धन्ते धनप्रजाः॥

(प्रजापति० १९)

जो महालयमें, पितरोंकी क्षयतिथिमें, ग्रहणमें तथा गयामें श्रद्धापूर्वक पितरोंका श्राद्ध करता है, उसके लिये अश्वमेधादि बड़े-बड़े यागोंके करने तथा अन्य पुण्यप्रद धर्म-कर्मोंके करनेसे क्या प्रयोजन? अर्थात् वह श्राद्धकर्मसे ही सब फलोंको प्राप्त कर लेता है—

श्राद्धं कृतं येन महालयेऽस्मिन्
पित्रोः क्षयाहे ग्रहणे गयायाम्।
किमश्वमेधैः पुरुषैरनेकैः
पुण्यैरिमैरन्यतमैः कृतैः किम्॥

(प्रजापति० २०)

प्रजापति रुचिका कहना है कि पितरोंको श्रद्धा-भक्तिपूर्वक शुद्ध भावनासे जो कुछ भी पवित्र वस्तु स्वल्प भी अर्पित की जाती है तो वह कोटिगुना फलदायी हो जाती है—

श्रद्धया स्वल्पमात्रं च दत्तं कोटिगुणं भवेत्॥

(प्रजापति० २५)

प्रजापति रुचिका अभिमत है कि नरकमें वास कर रहे पितरोंके लिये तीर्थका जल बड़ा ही दुर्लभ है, अतः यदि कोई अपने पितरोंके निमित्त गया, पुष्कर, प्रयाग आदि पुण्य तीर्थोंमें जाकर श्राद्ध, पिण्डदान तथा तर्पण आदि कर्म श्रद्धासे करता है तो उस श्राद्धकर्ताके द्वारा संतृप्त वे सभी पितर नरकोंसे मुक्ति प्राप्तकर अक्षय स्वर्गमें वास करते हैं—

पितॄणां नरकस्थानां जलं तीर्थस्य दुर्लभम्।
तेन संतर्पिताः सर्वे स्वर्गं यान्तीति मद्वचः॥

(प्रजापति० २९)

प्रतिदिन किया जानेवाला श्राद्ध नित्य-श्राद्ध कहलाता है। जैसे '**अहरहः संध्यामुपासीत**' प्रत्येक दिन संध्या करनी चाहिये—यह शास्त्र-वचन है, वैसे ही पितरोंकी प्रसन्नताके लिये नित्य-श्राद्ध सदा करना चाहिये। नित्य-श्राद्ध भगवान् विष्णुका स्वरूप ही है, अतः 'नित्य-श्राद्ध' करनेसे भगवान् विष्णु प्रसन्न होकर पितरोंके लिये संतृप्तकारक बन जाते हैं—

नित्यश्राद्धं सदा कार्यं पितॄणां तृप्तिहेतुकम्।
स विष्णुरिति विज्ञेयो नित्यं प्रीणाति पूर्वजान्॥

(प्रजापति० ३६)

अगस्त्य-पुष्प, भृङ्गराज, तुलसी, शतपत्रिका, तिल तथा तिल-पुष्प—ये छः पितरोंको अत्यन्त प्रिय हैं, अतः पितृकर्ममें इनका प्रयोग करना चाहिये—

अगस्त्यं भृङ्गराजं च तुलसी शतपत्रिका।
तिलं च तिलपुष्पं च षडेते पितृवल्लभाः॥

(प्रजापति० १०१)

बासी (पर्युषित) पुष्प तथा बासी जलका प्रयोग श्राद्ध आदि कर्मोंमें तथा देवपूजन इत्यादिमें नहीं करना चाहिये, किंतु गङ्गाजल तथा तुलसीदल या तुलसीपुष्पमें बासीपनका दोष नहीं होता, अतः ये सदा ग्राह्य हैं—

त्यजेत् पर्युषितं पुष्पं त्यजेत् पर्युषितं जलम्।
न त्यजेज्जाह्नवीतोयं तुलसीदलपङ्कजम्॥

(प्रजापति० १०८)

गोबरसे उपलिप्त भूमि, गोमूत्रसे सींची गयी भूमि तथा भगवान् विष्णुके चरणोंसे प्रकट हुई भगवती गङ्गाके जलसे सेवित भूमि सभी कार्योंके लिये पवित्र है, प्रशस्त है और तीर्थरूप है—

गोमयेनोपलिप्ता भूः पवित्रा सर्वकर्मसु।
गोमूत्रेणोक्षिता तीर्थं विष्णुपादाम्बुसेविता॥

(प्रजापति० १०९)

प्रजापति रुचिने दयाधर्मको मुख्य धर्म बताते हुए सभी प्राणियोंपर दया रखते हुए सबके कल्याणमें तत्पर रहनेका उपदेश प्रदान किया है और बताया है कि यदि पुण्य-प्राप्तिकी अभिलाषा हो, कल्याण-प्राप्तिकी इच्छा हो तो सभी प्राणियोंके प्रति दया एवं करुणाका भाव रखना चाहिये। मन, वाणी तथा कर्मसे अहिंसाका भाव रखना सबसे बड़ा धर्म है। इसलिये प्राणीमात्रको अपनी आत्माके ही समान समझकर सबके साथ प्रेम, मैत्री, दया एवं आदरका उच्च भाव रखकर व्यवहार करना चाहिये—

कारुण्यं प्राणिषु प्रायः कर्तव्यं पुण्यहेतवे।
अहिंसा परमो धर्मस्तस्मादात्मवदाचरेत्॥

(प्रजापति० १४८)

पुलस्त्यस्मृति

पुलस्त्यस्मृतिके प्रणेता ब्रह्मर्षि पुलस्त्य ब्रह्माजीके मानस पुत्र हैं। इनकी गणना सप्तर्षियों तथा प्रजापतियोंमें की जाती है। सृष्टिके विस्तारमें इनका विशेष योगदान है। सप्तर्षिमण्डलमें भ्रमण करते हुए ये संसारके जीवोंकी गतिविधियोंको देखते रहते हैं और अपनी तपस्या, ज्ञान तथा दैवीसम्पत्तिके द्वारा जगत्‌के कल्याण-सम्पादनमें लगे रहते हैं। इनका स्वभाव अत्यन्त दयालु है। ये योगविद्याके आचार्य भी माने गये हैं। ये ब्रह्माजीके समान ही तेजस्वी हैं और अपने उत्तम गुणोंके कारण देवता आदि उनसे विशेष प्रेम करते हैं। इनका मन सदा धर्ममें लगा रहता है। ये विश्रवाके पिता तथा कुबेर और रावण आदिके पितामह हैं। तपस्या, विद्या, बल, तेज, अध्यात्म-ज्ञान एवं धर्माचरणमें ये सर्वोत्कृष्ट हैं।

चूँकि ये प्रजापति हैं, इसलिये इन्होंने अपनी प्रजाके कल्याणके लिये उनके दैनिक आचार-विचारके नियन्त्रणके लिये एक धर्मसंहिताका प्रणयन किया, जो 'पुलस्त्यस्मृति'के नामसे प्रसिद्ध है। पहले यह स्मृति बड़ी रही होगी, किंतु वर्तमानमें वह अत्यल्परूपमें उपलब्ध होती है। जिसमें आज केवल ३० के आस-पास ही श्लोक प्राप्त होते हैं। प्राचीन निबन्धग्रन्थों—मदनपारिजात, विज्ञानेश्वर-प्रणीत मिताक्षरा टीका, कालमाधवीय तथा हेमाद्रि आदिमें इनके कई वचनोंको प्रमाण-रूपमें उद्धृत किया गया है, उसके कुछ वचन आज प्राप्त पुलस्त्यस्मृतिमें उपलब्ध नहीं होते, इससे भी यह प्रतीत होता है कि कुछ समय पूर्वतक पुलस्त्यस्मृति विस्तृत कलेवरके साथ उपलब्ध थी। उदाहरणके लिये हेमाद्रि (पुरुषार्थ-चिन्तामणि)-में उपन्यस्त महर्षि पुलस्त्यजीके कुछ वचनोंको दिया जा रहा है, जो वर्तमान पुलस्त्यस्मृतिमें नहीं हैं। यथा—

धर्मेषु नियता ये च धर्मशास्त्रार्थचिन्तकाः।
वेदशास्त्रविदो ये वै तेषां वचनमौषधम्॥

(हेमाद्रि, परि० खण्ड अ० ६)

अर्थात् 'जो धर्माचरणमें नियत हैं, धर्मशास्त्रके सूक्ष्म अर्थके चिन्तनमें लगे रहते हैं और जो वेदशास्त्रोंको जाननेवाले हैं, ऐसे तत्त्वज्ञानसम्पन्न तथा सदाचार-धर्माचारपरायण ऋषि-मुनियोंके वचन औषधके समान हितकारी एवं कल्याणकारी हैं, जैसे रोगीके लिये औषधि सब प्रकारसे उसका कल्याण करनेवाली तथा बिना कुछ विचार किये ग्रहण करने योग्य है, उसी प्रकार धर्मात्मा ऋषि-मुनियोंके धर्मशास्त्रोंमें कहे गये वचन सभी मनुष्योंके लिये बिना कुछ तर्क-वितर्क किये आचरणमें, व्यवहारमें लाने योग्य हैं और सब प्रकारसे इहलोक तथा परलोकमें मङ्गल करनेवाले हैं, अतः शास्त्र-वचनोंमें तनिक भी शंका किये बिना उनका यथावत् पालन अवश्य करना चाहिये।

इसी प्रकार श्राद्ध, प्रायश्चित्त, सदाचार आदिपर भी महर्षि पुलस्त्यजीके अनेक सुन्दर वचन प्राप्त होते हैं। पुराणोंमें भी इनके कई धर्मशास्त्रीय प्रकरण उपलब्ध हैं।

यहाँ संक्षेपमें पुलस्त्यस्मृतिकी कुछ बातोंको दिया जा रहा है। इस स्मृतिके उपक्रममें ही बतलाया गया है कि अनेक ऋषि-महर्षियोंने कुरुक्षेत्रमें महात्मा पुलस्त्यजीसे श्रुति-स्मृति तथा आगमोंमें प्रतिपादित धर्मोपदेशोंका श्रवण किया, वे ही उपदेश महर्षि पुलस्त्यजीके नामसे प्रसिद्ध हो गये और पुलस्त्यस्मृतिके नामसे जाने गये[१]।

मुख्यरूपसे इस स्मृतिमें चारों वर्णों तथा चारों आश्रमोंके मुख्य धर्मों (कर्तव्य-कर्मों)-के साथ ही संक्षेपमें राजधर्मका भी वर्णन किया गया है। इसमें वर्णधर्म, आश्रमधर्म, वर्णाश्रमधर्म, नैमित्तिक धर्म तथा राजधर्म—इस प्रकार धर्म पाँच प्रकारका कहा गया है—'**पञ्चधावस्थितं धर्मं शृणुध्वं द्विजसत्तमाः**'॥ (श्लोक २) इन पाँचोंको विशेषधर्म कहकर वर्ण तथा आश्रमके धर्मोंको संक्षेपमें बतलाया गया है और स्वधर्मपालनकी आज्ञा दी गयी है; क्योंकि स्वधर्म-पालनसे ही परम श्रेय एवं अभ्युदयकी प्राप्ति होती है—

उक्तः पञ्चविधो धर्मः श्रेयोऽभ्युदयहेतुकः।
पुरुषाणां यथायोगं स च सेव्यः फलार्थिना॥

(श्लोक २७)

१-कुरुक्षेत्रे महात्मानं पुलस्त्यमृषयोऽब्रुवन्। तांश्च धर्मान् प्रकारांश्च नो वद स्मार्तमागमम्॥ (श्लोक १)

संन्यास-धर्म

महर्षि पुलस्त्यजी संन्यासीके धर्मका निरूपण करते हुए बताते हैं कि संन्यासीको यह समझना चाहिये कि 'जो कुछ भी हो रहा है, सब भगवान्‌की शक्तिसे हो रहा है, स्वयमेव हो रहा है,' अतः लोकदृष्टिमें सब कुछ करता हुआ भी वह कर्तापनके अभिमानसे रहित रहे। भिक्षाके विशुद्ध अन्नसे जीवन-निर्वाह करे। कोई कुटी-आश्रम आदि न बनाये, किसी वृक्षके मूल आदिमें रहे। किसी भी वस्तु-पदार्थ अथवा धन-सम्पत्तिका तनिक भी परिग्रह (संग्रह) न करे, किसीसे द्रोह न करे। सभी जीव-निकायोंमें समता रखे अर्थात् सबमें भगवद्‌बुद्धि रखे। प्रिय-अप्रियमें और सुख-दुःखमें समान-भाव रखे, अर्थात् अनुकूल तथा प्रतिकूल किसी भी परिस्थितिमें विकारवान् न हो, निर्विकार-भावसे स्थिर रहे। बाह्य तथा आभ्यन्तर सब प्रकारसे शुद्ध रहे, नियमों एवं व्रतोंका पालन करे। भावको अत्यन्त शुद्ध रखे। भावनामें कोई विकार न आने पाये। सभी इन्द्रियोंको वशमें करके धारणा-ध्यानके बलपर नित्य ब्रह्म-चिन्तनरूप समाधिके आनन्दसागरमें निमग्न रहे।[१]

सामान्य-धर्म

चारों वर्ण एवं चारों आश्रमोंके विशेष-विशेष धर्मोंको बतलानेके बाद वर्णाश्रमधर्मके सभी मनुष्योंके लिये जो आवश्यक पालनीय नियम हैं, उनका निरूपण सामान्य-धर्मके अन्तर्गत किया गया है, क्योंकि ये ऐसे सामान्य, किंतु आवश्यक नियम हैं कि जिनका पालन किये बिना विशेष-धर्मोंका पालन करना व्यर्थ ही है, जैसे सत्य, अहिंसा, शौच (बाह्याभ्यन्तरशुद्धि एवं पवित्रता), दया तथा क्षमा आदि ऐसे सामान्य धर्म हैं, जिनका पालन चाहे ब्राह्मण आदि किसी वर्णका हो और चाहे ब्रह्मचारी, गृहस्थ आदि किसी आश्रमका हो, सबके लिये आवश्यक है, यह सार्वभौम धर्म है। मानवमात्रका धर्म है, इसीको इस स्मृतिमें इस प्रकार बतलाया गया है—

अहिंसा सत्यवादश्च सत्यं शौचं दया क्षमा।
वर्णिनां लिङ्गिनां चैव सामान्यो धर्म उच्यते॥

(पुलस्त्यस्मृति २२)

इस प्रकार पुलस्त्यस्मृतिमें अनेक उपादेय एवं व्यावहारिक बातें बतलायी गयी हैं। छोटी होनेपर भी यह अत्यन्त उपयोगी है।

लौगाक्षिस्मृति

महर्षि लौगाक्षिविरचित 'लौगाक्षिस्मृति' स्मृति-साहित्यमें अपना विशिष्ट स्थान रखती है। यह स्मृति काफी बड़ी है तथा इसमें मुख्यरूपसे जातकर्म, नामकरण, उपनयन तथा विवाह आदि संस्कारोंकी पूरी प्रयोग-विधि दी गयी है और प्रत्येक कर्मके वैदिक मन्त्रों एवं पद्धतिका भी निरूपण किया गया है। उपनयन-प्रकरणमें ब्रह्मचारिधर्मोंको भी विस्तारसे बताया गया है। विवाह-संस्कारके प्रकरणमें विस्तारसे औपासन-होम एवं चतुर्थी-कर्मका प्रतिपादन किया गया है। तदनन्तर गृहस्थके नित्य-नैमित्तिक कर्मोंका विस्तारसे वर्णन है, जिसमें बाह्याभ्यन्तर-शौच, दन्तधावन, स्नान, संध्या-विधि, गायत्री-जप, गायत्रीकी चौबीस मुद्राएँ, ब्रह्मयज्ञ, देव-पितृ-तर्पण, भीष्म-तर्पण और फिर विस्तारसे पञ्चायतन-पूजनमें गणेश, सूर्य, दुर्गा, विष्णु तथा शिव—इन पाँच देवोंके पूजनकी विधि निरूपित है। तदनन्तर पञ्चमहायज्ञोंका विधान, अतिथि-महिमा, भोजनविधि, भक्ष्याभक्ष्य-विचार, स्त्रीधर्म, गोदान तथा अन्तमें बड़े ही विस्तारसे वैश्वदेव

१-सर्वारम्भपरित्यागो भैक्षान्नं वृक्षमूलता। निष्परिग्रहताद्रोहः समता सर्वजन्तुषु॥
प्रियाप्रियपरिष्वङ्गः सुखदुःखाविकारिता। सबाह्याभ्यन्तराशौचं नियमो व्रतकारिता॥
सर्वेन्द्रियसमाहारो धारणाध्याननित्यता। भावशुद्धिस्तथेत्येवं परिव्राड्धर्म उच्यते॥
(श्लोक १९—२१)

तथा श्राद्धकी पूरी प्रक्रिया बतायी गयी है। बीच-बीचमें बड़े ही सुन्दर उपदेश आये हैं। महर्षि लौगाक्षिने धर्माचरणको ही परम श्रेयका साधन बताया है। यहाँ इस स्मृतिकी कुछ बातें अति संक्षेपमें दी जा रही हैं—

लक्षवर्तिका दीपदानकी महिमा

महर्षि लौगाक्षिने पुरुष अथवा स्त्रियोंद्वारा किये जानेवाले घोर दुष्कृत कर्मों तथा गुह्यतम पापोंकी निवृत्तिके लिये अर्थात् जिन पापोंको एकान्तमें किया गया हो और प्रकट न किया गया हो, उनके निवारणके लिये 'लक्षवर्तिका (एक लाख बत्तीके)-दीपदान' को सर्वोत्तम उपाय बतलाया है और कहा है कि वैशाख, कार्तिक तथा माघ मासमें मासभर भगवान् विष्णु या शिवकी प्रीतिके लिये उनकी आराधनापूर्वक लक्षवर्तिकायुक्त दीपका दान करनेसे सब प्रकारके दोष-पाप शान्त हो जाते हैं। दीपके लिये यथासम्भव गोघृतका प्रयोग करना चाहिये। जिस मासमें दीपदान करना हो उसकी पूर्णिमाको उद्यापन करना चाहिये[१]। वैसे तो अपनी श्रद्धा-भक्तिपूर्वक कभी भी यह 'लक्षवर्तिका-दीपदान' किया जा सकता है, किंतु दीपदानके लिये कार्तिक मास सर्वश्रेष्ठ है—

दीपाराधनकृत्यस्य कार्तिकस्तूत्तमोत्तमः।
कार्तिके तत्कृतं कर्म कोटिकोटिगुणं भवेत्॥

भगवान् विष्णुकी विशेष आराधना करके कार्तिक मासमें मात्र एक दीपका दान करनेसे भी जन्मसे लेकर आजतकके सभी संचित पाप तत्क्षण ही नष्ट हो जाते हैं, फिर यदि कोई एक लाख वर्तिकाओंवाले मङ्गलदीपका दान करे तो उसके फलके विषयमें क्या कहा जा सकता है[२]?

यमल पुत्रोंकी व्यवस्था

लौगाक्षिस्मृतिमें संक्षेपमें विवाहके प्रकरणमें 'औरस' तथा 'दत्तक' पुत्रका भी संक्षेपमें वर्णन हुआ है और यमल (जुड़वें) पुत्रोंमें ज्येष्ठ-कनिष्ठपर विचार करते हुए कहा गया है कि जो पुत्र पहले जन्म लेता है वह कनिष्ठ (छोटा) होता है और जो बादमें जन्म लेता है, उसे ज्येष्ठ पुत्र समझना चाहिये तथा यही बादमें जन्मा ज्येष्ठ पुत्र पिताके कर्मोंको करनेका अधिकारी है—

यमयोः पुत्रयोर्मध्ये पूर्वं जातः कनीयसः॥
पश्चाज्जातस्तु विज्ञेयो ज्येष्ठः कर्मसु सत्कृतः।

(लौगाक्षि०, पृ० २४६)

भगवान् अग्निका ध्यान-स्वरूप और उनकी प्रार्थना

औपासन-होमके प्रकरणमें भगवान् अग्निदेवके ध्यान-स्वरूपका निरूपण करते हुए बताया गया है कि भगवान् अग्निदेवके सात हाथ, चार सींग, सात जिह्वाएँ दो सिर तथा तीन चरण(पाँव) हैं। वे अत्यन्त प्रसन्न मुखवाले हैं। सुखपूर्वक आसनपर विराजमान हैं। उनके मुखमण्डलपर अत्यन्त मधुर मुसकानकी छटा सुशोभित है, उनके दक्षिण-भागमें देवी स्वाहा तथा वाम-भागमें देवी स्वधा विराजमान हैं। वे अपने दाहिने हाथोंमें शक्ति, अन्न, स्रुच् तथा स्रुवा धारण किये हैं और बायें हाथोंमें तोमर, व्यजन तथा घृतपात्र लिये हैं। इस प्रकारके स्वरूपवाले भगवान् हुताशनको अपने सामने प्रत्यक्ष बैठे हुएके समान समझकर साधकको बड़े ही भावसे उनका यजन-पूजन अथवा आराधन करना चाहिये[३] और उनसे इस प्रकार प्रार्थना करनी चाहिये—

१-यस्मिन् मासे समाप्तिः स्यात् तत् पौर्णम्यां समापनम्॥ (लौगाक्षि०, पृ० २६०)

२-एकेन दीपदानेन देवदेवस्य कार्तिके॥
आजन्मसंचितं पापं तत्क्षणादेव नश्यति। किं पुनर्लक्षसंख्याकैर्वर्तिवृन्दोद्भवैः शिवैः॥ (लौगाक्षि०, पृ० २६०)

३-सप्तहस्तश्चतुःशृङ्गः सप्तजिह्वो द्विशीर्षकः।
त्रिपात्प्रसन्नवदनः सुखासीनः शुचिस्मितः। स्वाहां तु दक्षिणे पार्श्वे देवीं वामे स्वधां तथा।
बिभ्रद्दक्षिणहस्तैस्तु शक्तिमन्नं स्रुचं स्रुवम्। तोमरं व्यजनं वामैर्घृतपात्रं तु धारयन्।
आत्माभिमुखमासीन एवंरूपो हुताशनः॥ (लौगाक्षि०, पृ० २६८)

[स्मृतियोंमें प्रायः वेदार्थका ही उपबृंहण हुआ है। भगवान् अग्निदेवका ऋग्वेद (४।५८।३), यजुर्वेद (१७।९१) आदिमें इस प्रकार ध्यान आया है। इसी ध्यानका विस्तार इस स्मृतिमें हुआ है—
चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आ विवेश॥]

श्रद्धां मेधां यशः प्रज्ञां विद्यां बुद्धिं श्रियं बलम्।
आयुष्यं तेज आरोग्यं देहि मे हव्यवाहन॥

(लौगाक्षि०, पृ० २६९)

अर्थात् हवनीय द्रव्यको वहन करनेवाले हे हव्यवाहन भगवान् अग्निदेव! आप मुझे श्रद्धा, मेधा, उत्तम यश, प्रज्ञा, विद्या, सद्बुद्धि, ऐश्वर्य, बल, आयु, तेज तथा आरोग्य प्रदान करें।

निष्काम धर्माचरणसे परम ज्ञानकी प्राप्ति

महर्षि लौगाक्षिका परामर्श है कि प्रत्येक व्यक्तिको अपने आत्मोद्धारका उपाय अवश्य करना चाहिये और वह आत्मोद्धार है अपनेको भगवत्प्राप्तिके योग्य बना लेना। इसके लिये सम्यक् ज्ञानकी अपेक्षा है और वह सम्यक् ज्ञान न तो अनेक कर्मोंके करनेसे, न गृहस्थाश्रमके सेवनसे अर्थात् संतानादिसे, न धनके त्याग अर्थात् दान इत्यादि कर्मोंके करनेसे, न तपस्या करनेसे और न सैकड़ों पुण्यकर्मोंके करनेसे प्राप्त होता है, बल्कि वह ज्ञान तो जबतक चित्त तथा अन्तःकरण सर्वथा निर्मल, पवित्र एवं सात्त्विक नहीं हो जाता है तबतक होना सम्भव नहीं। केवल कर्मोंके जालसे ज्ञान नहीं होता, इसके लिये आवश्यक है कि चित्त परम शुद्ध हो। वह चित्तकी शुद्धि भी नित्य निष्काम-धर्माचरणपर ही आधृत है अर्थात् व्यक्ति शुद्ध हृदयसे, पवित्र-बुद्धिसे यदि अपने आश्रम एवं वर्णधर्मकी मर्यादामें स्थिर रहकर धर्मशास्त्रोंकी आज्ञाके अनुसार निष्कामभावसे कर्म करता है तो वे ही कर्म उसे सम्यक् ज्ञानकी प्राप्ति करा देते हैं और इस ज्ञानसे उसका परम कल्याण हो जाता है[1]।

सदा हितकर एवं श्रेयस्कर कार्य करे

बुद्धिमान् मनुष्यको चाहिये कि जो कार्य सब प्रकारसे मङ्गलजनक हो, परम कल्याणकारी हो, वही कार्य बार-बार अथवा निरन्तर करना चाहिये। जो कार्य सज्जनोंको उद्वेग उत्पन्न न करे, सभी शास्त्रोंसे अभिमत हो, सभी प्रकारसे अहेय हो अर्थात् प्रशंसनीय हो, वही कार्य करने योग्य है। जो कार्य देश-कालके अनुरूप हो, वेदद्वारा विहित हो, समीचीन हो, अपने कुलके अनुकूल हो, अपने बन्धु-बान्धवों तथा शिष्टजनोंद्वारा आचरित हो, वही कार्य करने योग्य है। इसके विपरीत जो शास्त्रद्वारा निन्द्य बताया गया हो, सज्जनोंद्वारा अभिमत न हो ऐसे कुकर्मको विद्वान् व्यक्तिको कभी भी नहीं करना चाहिये, ये सब त्याज्य कर्म हैं[2]।

निवासयोग्य उत्तम देश

जहाँ सज्जन पुरुष निवास करते हों, जहाँ वेदज्ञ विद्वान् ब्राह्मण रहते हों और जहाँ अग्निहोत्र आदि पुण्यकर्मोंका अनुष्ठान होता हो, वह देश निवास करनेके लिये उत्तम है। **'स देशः पर उत्तमः।'** (पृ० २७४) और एक भी असज्जन या दुष्ट पुरुषके निवास करनेसे क्षेत्र सुक्षेत्र न होकर कुक्षेत्र हो जाता है—**'असदेकनिवासेन कुदेशत्वं तथा स्मृतम्।'** (पृ० २७४)। अतः जहाँ सत्पुरुष रहते हों, वही स्थान रहने योग्य है।

चौदह एवं अठारह विद्याएँ

अङ्गोंसहित चारों वेद अर्थात् (१) ऋग्वेद, (२) यजुर्वेद, (३) सामवेद तथा (४) अथर्ववेद—ये चार वेद और (५) शिक्षा, (६) कल्प, (७) निरुक्त, (८) व्याकरण, (९) छन्द तथा (१०) ज्योतिष—ये वेदके अङ्ग, (११) मीमांसादर्शन, (१२) न्यायदर्शन, (१३) पुराण और (१४) धर्मशास्त्र—ये चौदह विद्याएँ हैं। इन सभीके मूलमें धर्मतत्त्व ही निहित है। इसीके साथ (१) आयुर्वेद, (२) धनुर्वेद, (३) गन्धर्ववेद तथा (४) अर्थशास्त्र—ये चार मिलाकर अठारह विद्यास्थान हैं[3]।

१-न कर्मणा न प्रजया न धनत्यागतोऽपि वा। तपसा केवलेनापि तथा पुण्यशतादपि॥
ज्ञानं न जायते नृणां किंतु तच्चित्तशुद्धितः। सा चित्तशुद्धिस्तु तथा नित्यैस्तैरेव कर्मभिः॥ (लौगाक्षि०, पृ० २७०)

२-हितं श्रेयस्करं भूरि कर्म कार्यं मनीषिभिः।
सतामनुद्वेगकरं सर्वशास्त्रैकसम्मतम्। अहेयं सर्वविन्दूनां यत् स्यात् कर्तव्यमेव तत्॥
देशकालं वैदिकं च समयं स्वकुलक्षमम्। स्वबन्धुशिष्टहव्यं यत् कर्तव्यं न तु चेतरत्॥ (लौगाक्षि०, पृ० २७३)

३-अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः। पुराणं धर्मशास्त्रं च विद्या ह्येताश्चतुर्दश॥
आयुर्वेदो धनुर्वेदो गन्धर्वो वेद एव च। अर्थशास्त्रं चतुर्थं तु विद्या ह्यष्टादश स्मृताः॥ (लौगाक्षि०, पृ० २७५)

कलियुगकी महिमा

जिस धर्मकी सिद्धि सत्ययुगमें दस वर्षोंमें होती है, त्रेतायुगमें वर्षभरमें होती है और द्वापरमें एक मासमें होती है, उसी धर्मकी सिद्धि कलियुगमें मात्र एक अहोरात्र (२४ घंटे)-में हो जाती है अर्थात् कलियुगमें थोड़ी भी धर्म-साधना, थोड़ी भी भक्ति-भावपूर्वक की गयी आराधनासे सद्यः सिद्धि प्राप्त हो जाती है, इसलिये कलियुग शीघ्र ही महान् कल्याण कर देनेवाला है—

यत्कृते दशभिर्वर्षैस्त्रेतायां हायनेन तु॥
द्वापरे तस्य मासेन ह्यहोरात्रात् कलौ युगे।
धर्मसिद्धिर्भवेन्नृणां कलिः साधुस्ततो महान्॥

(लौगाक्षि०, पृ० २७७)

आख्यान—

पितृतीर्थ

पितृभक्त सुकर्माकी कथा

जैसे शिष्यके लिये गुरुकी सेवा तथा पत्नीके लिये पतिकी सेवाके अतिरिक्त किसी तीर्थ, व्रत आदिका कोई विशेष महत्त्व नहीं होता, उसी प्रकार पुत्रके लिये माता-पिताकी सेवाके अतिरिक्त अन्य किसी तपस्या, तीर्थ, व्रत आदिकी कोई विशेष आवश्यकता नहीं होती। क्योंकि माता-पिता ईश्वरकी चलती-फिरती मूर्ति हैं। ईश्वरकी सेवासे जैसे सम्पूर्ण देवता स्वयं प्रसन्न हो जाते हैं, वैसे ही ईश्वरकी मूर्ति—माता-पिताकी सेवासे सारे देवता स्वयं प्रसन्न हो जाते हैं। पुत्रने यदि माता-पिता तथा गुरुको अपनी सेवासे संतुष्ट कर लिया तो चान्द्रायण आदि सारे व्रतोंकी पूर्ति स्वयं हो जाती है।[१]

पद्मपुराणमें एक कथा आती है। सुकर्मा नामके एक सर्वशक्तिसम्पन्न ब्राह्मण थे, जो अवस्थाकी दृष्टिसे वे निरे बालक थे, फिर भी माता-पिताकी सेवासे उनमें वे शक्तियाँ आ गयी थीं, जो हजारों वर्ष तपस्या करके भी नहीं आ पातीं। सुकर्माके पिताका नाम था कुण्डल। सुकर्माने अपने पितासे ही वेद-शास्त्रोंका अध्ययन किया था। सुकर्मा धर्मशास्त्रके इस तथ्यको जानते थे कि यदि मैं माता-पिताकी सेवा कर सका तो मुझे किसी व्रत आदिके करनेकी विशेष आवश्यकता नहीं रह जायगी।

माता-पिताकी सेवा वे प्रतिदिन तन्मय होकर सावधानीसे करने लगे। माता-पिताकी सेवामें कभी सुकर्माको थकानका अनुभव नहीं होता, अपितु अधिक-से-अधिक सेवा करनेमें अधिक-से-अधिक आनन्द मिलने लगा। सुकर्मा माता-पिताका शरीर दबाते, मल-मलकर स्नान कराते और उनकी रुचिके अनुसार ठीक अवसरपर उन्हें भोजन कराते। गर्मीके दिनोंमें उन्हें पंखा झलते और जाड़ेमें उनके शीत-निवारणके लिये अग्नि प्रज्वलित करते। इस प्रकार सुकर्माका प्रत्येक क्षण माता-पिताकी सेवामें ही बीतता।

उन्हीं दिनों पिप्पल नामके एक तपस्वी दशारण्यमें कठिन तपस्या कर रहे थे। उनकी तपस्यासे दशारण्यके प्राणियोंमें पारस्परिक वैर समाप्त हो गया था। सब हिल-मिलकर रहते थे। एक बार उन्होंने तीन हजार वर्ष केवल वायु पीकर गुजार दिये। उनकी देहसे ज्योतिष्मती आभाएँ निकलती रहती थीं। उनकी ऐसी तपस्यासे इन्द्रादि देवता विस्मित हो उठे और प्रसन्न होकर तपस्वी पिप्पलके शरीरपर फूलोंकी वर्षा की और कहा—'तुम जो भी चाहो वर माँगो। तुम्हें सब कुछ मिल जायगा।'

पिप्पलने वरमें माँगा कि 'सम्पूर्ण संसार मेरे वशमें हो जाय।' देवताओंने 'तथास्तु' कहकर तपस्वी पिप्पलकी मनःकामना पूरी की। इसके बाद तपस्वी पिप्पलने वर-दान-प्राप्तिकी सत्यता परीक्षाद्वारा जाननी चाही। देवताओंका आशीर्वाद भला कैसे निष्फल होता। तपस्वी पिप्पल जिसे-जिसे चाहते वह-वह उनके वशमें हो जाता। इस सिद्धिसे तपस्वी पिप्पलमें अहंकारका अंकुर फूटने लगा। वे कहने लगे—'विश्वमें मेरे समान और कोई नहीं है।'

१-तयोर्नित्यं प्रियं कुर्यादाचार्यस्य च सर्वदा। तेष्वेव त्रिषु तुष्टेषु तपः सर्वं समाप्यते॥ (मनुस्मृति २। २२८)

ब्रह्माजीने देखा कि अहंकार करनेसे तपस्वी पिप्पलकी दुर्गति होगी। इसलिये वे सारसका रूप धारण करके पिप्पलसे बोले—'पिप्पल! तुम यह जो अहंकार कर रहे हो कि इस समय मुझसे बढ़कर कोई श्रेष्ठ नहीं है, यह झूठा है। हजारों वर्ष तपस्या करके भी तुम अबोध-के-अबोध रह गये हो। तुम्हें तो केवल अर्वाचीन तत्त्वका ही ज्ञान हुआ है। प्राचीन तत्त्वके सम्बन्धमें तुम कुछ नहीं जानते हो। इन दोनों तत्त्वोंका सच्चा ज्ञाता तो केवल पितृभक्त सुकर्मा है। इस समय सुकर्मासे बढ़कर कोई अन्य तत्त्ववेत्ता नहीं है। उम्रकी दृष्टिसे तुम सुकर्मासे हजारों वर्ष बड़े हो। सुकर्मा तो अभी निरा बालक ही है। तुमने तो घोर तप किये हैं, किंतु सुकर्माने कोई तप नहीं किया है। तुमने यज्ञ, दान, ध्यान आदि बहुत सत्कर्म किये हैं। सुकर्माने इनमेंसे किसी एकका भी सम्पादन नहीं किया है। उसने जो कुछ किया है, केवल माता-पिताकी सेवा की है और इसीसे वह विश्वका सबसे बड़ा तत्त्ववेत्ता बन बैठा है। भूत, भविष्य और वर्तमानकी सारी घटनाएँ उसे प्रत्यक्ष दीखती हैं। सारा विश्व उसके वशमें है।

सारसका यह कथन सुनकर तपस्वी पिप्पल हतप्रभ हो गये। उन्होंने पूछा कि आप सारसके रूपमें कौन हैं? सारसने कहा—'तुम सुकर्माके पास जाओ। उसीसे मेरा परिचय और अर्वाचीन-प्राचीन ज्ञानके विषयमें भी पूछो।'

तपस्वी पिप्पलकी उत्सुकता बहुत बढ़ गयी थी। वे अनवरत चलकर सुकर्माके पास जा पहुँचे। उस समय सुकर्मा माता-पिताके चरणोंकी प्रेमपूर्वक सेवा कर रहे थे। पितृ-प्रेम उनके अङ्ग-प्रत्यङ्गसे झाँक रहा था। विनम्रता और शान्तिके वे प्रतीक मालूम पड़ते थे। सुकर्माने जब तपस्वी पिप्पलको अपने दरवाजेपर देखा, तब उनके पास पहुँचकर बहुत ही नम्रतासे प्रणाम किया और अर्घ्य, पाद्य देकर उनकी पूजा की। बातचीतके अवसरपर सुकर्माने पिप्पलके जीवनमें होनेवाली सारी घटनाओंको खोलकर बतला दिया। यह भी बता दिया कि भगवान् ब्रह्माने सारसका रूप धारणकर आपको मेरे पास भेजा है।

बिना बताये अपनी सारी घटनाओंको सुकर्माके मुखसे सुनकर तपस्वी पिप्पलको महान् आश्चर्य हुआ। अब तपस्वी पिप्पलने सुकर्माकी दूसरी परीक्षा लेनी चाही। कहा—'मैंने सुना है कि समग्र विश्व आपके अधीन है। मैं इसे प्रत्यक्ष देखना चाहता हूँ।' सुकर्माने अतिथिकी इच्छाको पूर्ण करना चाहा। उसने देवताओंका स्मरण किया। देखते-देखते वहाँ सभी देवता इकट्ठे हो गये, सब जगह देवता-ही-देवता भरे हुए थे। आकाश, जल, थलमें तिल रखनेकी भी जगह नहीं थी।

देवताओंने सुकर्माका सम्मान किया और वर माँगनेको कहा। सुकर्माने भक्तिभावसे देवताओंको प्रणाम किया और वर माँगा कि 'माता-पिताके चरणोंमें मेरा प्रेम बढ़ता रहे। दूसरा वरदान यह माँगा कि मरनेपर मेरे माता-पिताको विष्णुका धाम प्राप्त हो।' देवताओंने हर्षमें भरकर 'तथास्तु' कहा और अदृश्य हो गये।

तपस्वी पिप्पल आँखें फाड़-फाड़कर यह कौतुक देखते रह गये। अब उन्होंने परमात्माके अर्वाचीन और प्राचीन रूपको जानना चाहा। सुकर्माने विस्तारके साथ इस रहस्यका निरूपण किया। पिप्पल बहुत विस्मित थे कि इतनी छोटी अवस्थामें सुकर्माको इतना ज्ञान और इतनी सिद्धियाँ कैसे मिल गयीं। उन्होंने पूछा—'सुकर्मा! तुम तो निरे बालक हो। तुमने कोई तपस्या नहीं की, कोई यज्ञ नहीं किया, कोई तीर्थ और व्रत भी नहीं किया। फिर तुम्हें ये सब सिद्धियाँ कैसे प्राप्त हुईं?

सुकर्माने नम्रतासे कहा—'ब्रह्मन्! आपका कहना ठीक है। सचमुच मैंने तीर्थ, व्रत आदि सत्कर्म कभी नहीं किया। मैंने तो केवल माता-पिताके चरणोंकी सेवा की है। मुझे इतना मालूम है कि माता-पिताकी सेवासे बढ़कर और कोई साधन नहीं है और इनके अतिरिक्त मुझे किसी साधनकी आवश्यकता भी नहीं रहती। मेरे भाग्यसे अभी मेरे माता-पिता जीवित हैं। इनकी सेवा ही मेरे लिये सब कुछ है। पुत्रके लिये माता-पिता तथा गुरु आदिकी सेवा करना धर्मशास्त्रका आदेश है। वेद-पुराण भी यही कहते हैं-

एतयोश्च प्रसादेन ज्ञानं मम प्रदीप्यताम्॥

(पद्मपु०, भूमिखण्ड ८४। १८)

अरुणस्मृति

अरुण भगवान् सूर्यके सारथी हैं। भगवान् सूर्यके समान ही ये भी समस्त प्राणियोंके धर्म-कर्मके साक्षी हैं। भगवान् सूर्यके सात घोड़ोंसे समन्वित दिव्य रथमें आरूढ़ होकर ये घोड़ोंकी वल्गा (लगाम) थामकर सूर्यके पथमें भ्रमण करते रहते हैं। ये धर्मकी मर्यादामें स्थित रहते हैं। पूर्व क्षितिजमें सूर्योदयसे पूर्व अरुणकी लालिमा स्पष्ट दीख पड़ती है। पौराणिक आख्यानोंमें निर्दिष्ट है कि अरुण प्रजापति कश्यपके पुत्र हैं, इसलिये ये काश्यप या काश्यपेय भी कहलाते हैं। इनकी माताका नाम विनता था। इन्होंने श्येनीसे सम्पाती तथा जटायु नामक दो पुत्रोंको प्राप्त किया था। समस्त संसारके प्रत्यक्ष द्रष्टा होनेके कारण इनसे कुछ भी छिपा नहीं है। ये सभी बातोंकी जानकारी रखते हैं। इनके नामसे एक संक्षिप्त स्मृति प्राप्त होती है, जो 'अरुणस्मृति'के नामसे विख्यात है। कलेवरमें लघुकाय (१४८ श्लोकात्मक) होनेपर भी इस स्मृतिका विशेष महत्त्व है।

ब्राह्मणका स्वरूप कितना शुद्ध, निर्मल, पवित्र और तपःपूर्ण होता है—यह 'अरुणस्मृति'का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। देखनेमें तो ब्राह्मण सामान्य मनुष्य-सा ही प्रतीत होता है, पर स्वधर्मपालन, चरित्र और तपस्याकी दृष्टिसे वह देवताओंसे भी बहुत ऊपर उठा हुआ है। भगवान् सूर्य और अरुणके संवादमें इस स्मृतिमें ब्राह्मणके अप्रतिग्रह-रूप मुख्य धर्मका निरूपण हुआ है। यद्यपि ब्राह्मणके अप्रतिग्रहधर्म (दान न लेने, संग्रह न करने)-का वर्णन अन्य मनु आदि स्मृतियोंमें भी आया है, किंतु इस स्मृतिमें आद्योपान्त केवल यही विषय बड़े ही विस्तारसे वर्णित है। इसके अतिरिक्त इसमें अन्य कोई बात नहीं आयी है; इस दृष्टिसे इस स्मृतिका विशेष महत्त्व प्रतीत होता है। वास्तवमें विशुद्ध ब्राह्मणत्व क्या है, यह इस स्मृतिके अध्ययनसे भलीभाँति समझमें आ जाता है।

तपस्या, गायत्री-उपासना, स्वाध्याय और आत्मज्ञान—यह ब्राह्मणका श्रेष्ठ धर्म है। शास्त्रोंमें यद्यपि अध्ययन करना-कराना, यज्ञ करना-कराना तथा दान देना और दान लेना—ये ब्राह्मणके ६ मुख्य वर्णधर्म बतलाये गये हैं, तथापि इनमें भी त्यागवृत्ति एवं संतोषपूर्वक रहना उनका मुख्य लक्षण निर्दिष्ट किया गया है। ब्राह्मणके लिये किंचित् भी धन संचय न करके उसे असंग्रही होनेका निर्देश है; क्योंकि धन-सम्पत्ति तपस्या आदि कल्याणकारी मार्गमें प्रबल बाधक है। ब्राह्मणके लिये धर्मशास्त्रमें यह आज्ञा है कि वह दान लेनेमें (प्रतिग्रहमें) समर्थ होनेपर भी लोभके वशीभूत हो किसीसे दान न ले। इससे उसका ब्रह्मतेज नष्ट हो जाता है। अतः उसे उचित है कि धर्मपूर्वक, न्यायपूर्वक वित्तोपार्जन करनेवालोंसे बहुत आवश्यक होनेपर ही दान ले। अन्यायोपार्जित द्रव्य कदापि न ग्रहण करे।

ब्राह्मणमें एक दिव्य ब्राह्म तेज होता है, जिसके लिये घोर तप करके राजर्षि विश्वामित्रने क्षत्रियत्वसे ऊपर उठकर और ब्रह्मतेज प्राप्त कर त्रिशंकुको सशरीर स्वर्ग भेजा; दूसरे स्वर्ग, सप्तर्षि, ग्रह और नक्षत्रोंका निर्माण किया तथा वे एक दूसरे ही ब्रह्माण्डके निर्माणमें सक्षम हो गये। जब ब्रह्मतेजसम्पन्न ब्राह्मण ब्रह्माके समान नयी सृष्टि कर सकता है तो दिव्य सम्पत्तियोंका निर्माण कर लेना उसके लिये तुच्छ बात है। अतः उसे प्रतिग्रहकी क्या आवश्यकता है? अपने तप, विद्या एवं मन्त्र-बलसे वह सब कुछ करनेमें सक्षम है। 'प्रतिग्रह ब्राह्मणके लिये सर्वथा परित्याज्य है' इस रहस्यको अरुणस्मृतिमें भगवान् सूर्यद्वारा अरुणको अनेक प्रकारसे उपदिष्ट किया गया है।

इस स्मृतिमें बतलाया गया है कि प्रतिग्रहसे ब्राह्मणका ब्राह्म तेज नष्ट हो जाता है। धनके लोभमें पड़कर यदि वह दान लेता है तो निर्विष सर्पकी तरह तेजोहीन, सत्त्वहीन हो जाता है। विद्या, विवेक, बुद्धि, ज्ञानसे हीन हो जाता है। उसका पुण्य भी नष्ट हो जाता है। अतः उसे अत्यन्त अपरिग्रही होकर शास्त्रकी मर्यादाका पालन करना चाहिये। इसीमें ब्राह्मणका ब्राह्मणत्व है। यदि वह अपने कर्तव्यसे च्युत हो जाय तो उसका ब्राह्मणत्व व्यर्थ ही है। ब्राह्मणको तो उपवास, जप, तप एवं धर्माचरणमें ही निरत रहना चाहिये। त्यागके कारण ही ब्राह्मणकी पूज्यता है।

भगवान् आदित्य अरुणसे कहते हैं कि 'हे काश्यपेय! ब्राह्मणके लिये प्रतिग्रह (दान) ऊपरसे मधुके समान मीठा ज्ञान पड़ता है, किंतु परिणाममें वह विषके समान हो जाता

है, किंतु दाताके लिये वह पुण्य ही होता है'—

प्रतिग्रहः काश्यपेय मध्वास्वादो विषोपमः।
ब्राह्मणाय भवेन्नित्यं दाता धर्मेण युज्यते॥

(अरुण० ३)

दान लेनेसे ब्राह्मणोंका ब्राह्म तेज नष्ट हो जाता है, इसलिये प्रतिग्रह लेनेपर प्रायश्चित्त अवश्य करना चाहिये—

प्रतिग्रहेण विप्राणां ब्राह्मं तेजः प्रशाम्यति।
अतः प्रतिग्रहं कृत्वा प्रायश्चित्तं समाचरेत्॥

(अरुण० २६)

दोषयुक्त दान लेनेसे ब्राह्मण दाताके दोष-पापोंका भागी बन जाता है। यहाँतक कि भिक्षाका जो अन्न ब्राह्मण ग्रहण करता है, उसके लिये भी उसे गायत्री आदि पुण्यप्रद मन्त्रोंका जप करना चाहिये, तभी दोष-पापकी शान्ति होती है—

दुष्टप्रतिग्रहं कृत्वा विप्रो भवति किल्बिषी।
अपि भिक्षागृहीते तु पुण्यमन्त्रमुदीरयेत्॥

(अरुण० २७)

विद्वान् व्यक्तिको चाहिये कि प्रथम तो वह प्रतिग्रह ले ही न, यदि ले भी तो शरीरकी शुद्धिके लिये प्रायश्चित्त करे, जप करे, होम करे। प्रतिग्रहके धनमेंसे भी दान करे, गायोंकी सेवामें लगाये, दीन-दुखियोंको बाँटे। इस प्रकार प्रायश्चित्त आदि करने तथा धनके सदुपयोगसे प्रतिग्रहजन्य दोष-पापसे वह मुक्त हो जाता है—

तस्मात् प्रतिग्रहं कृत्वा प्रायश्चित्तं समाचरेत्॥

× × ×

प्रायश्चित्ते कृते विप्रो मुच्यते दुष्परिग्रहात्।

(अरुण० ४१, ४३)

प्रतिग्रहका धन स्थिर भी नहीं रहता, वह समूल नष्ट हो जाता है—

प्रतिग्रहार्जितं द्रव्यं सर्वं नश्यति मूलतः॥

(अरुण० ७३)

इसलिये उस धनको यज्ञादि पुण्यानुष्ठानों, मन्दिरों, वापी, कूप, तालाब आदिके निर्माण आदि सत्कार्योंमें लगाना चाहिये—

तस्मात् प्रतिग्रहधनं न स्थिरं स्यात् कदाचन।
प्राज्ञः प्रतिग्रहं कृत्वा तद्धनं सद्गतिं नयेत्॥

(अरुण० १३९)

यद्यपि प्रायश्चित्त अनेकों प्रकारके हैं, किंतु उनमें भी भगवान् नारायणका स्मरण परम प्रायश्चित्त है—

प्रायश्चित्तं तु तस्यैव हरेः स्मरणं परम्।

(अरुण० १४५)

भगवान् सूर्य अरुणजीको यह भी बतलाते हैं कि प्रतिग्रहमें उतना दोष नहीं है, जितना कि उसके बेचनेमें है—

प्रतिग्रहे न दोषः स्याद् दोषस्तस्यैव विक्रये॥

(अरुण० ४६)

विद्यादान, भूमिदान तथा कपिलाके दानको प्रतिग्रह नहीं बतलाया गया है और न उसके लेनेमें कोई दोष बताया गया है। ये तीनों अतिदान कहे गये हैं। ये तीनों प्रतिग्रहमें लेनेपर भी परोपकार ही करते हैं, अतः इनमें दोष नहीं है, यथा कपिला गायके गव्य पदार्थोंका यज्ञ आदि कार्योंमें उपयोग होकर सबका कल्याण होता है, उसके पालन करनेमें भी पुण्य ही है। इसी प्रकार विद्यार्जन करनेसे पुनः उसी सद्विद्यासे अन्य लोगोंका भला होता है और भूमि दानमें लेनेसे उस भूमिसे प्राप्त अन्नसे न केवल मनुष्योंका बल्कि पशु-पक्षी आदि तिर्यक् प्राणियोंका भी भरण-पोषण होता है। कपिला गायके विषयमें कहा गया है—

प्रतिग्रहस्ततस्तस्याः पुण्यात् पुण्यतरः स्मृतः॥

(अरुण० ६७)

ऐसे ही भूमिदानके विषयमें कहा है कि भूमिदान देनेवाला तथा भूमिका दान लेनेवाला दोनों पुण्यके भागी होते हैं और स्वर्गमें निवास करते हैं—

भूमिं यः प्रतिगृह्णाति भूमिं यश्च प्रयच्छति।
उभौ तौ पुण्यकर्माणौ नियतं स्वर्गगामिनौ॥

(अरुण० ८९)

यदि भगवत्प्राप्तिकी इच्छा है तो वास्तविक त्याग कीजिये। हृदयसे अपना सर्वस्व प्रभुका समझिये। प्रभुके लिये ही सारे काम कीजिये। ममता, अहंता और आसक्तिको जड़से उखाड़ डालिये।

राजप्रतिग्रह महान् दोष है—एक प्राचीन आख्यान

भगवान् आदित्य अरुणजीको उपदिष्ट करते हुए कहते हैं कि राजाका दिया हुआ दान और भी अधिक भयंकर है। वह शहदके समान आस्वादयुक्त प्रतीत होनेपर भी परिणाममें विषके समान घातक है, अतः उसकी घोररूपताको समझकर लोभमें पड़कर कौन मनुष्य ऐसा है जो दान लेगा ?

राजप्रतिग्रहो घोरो मध्वास्वादो विषोपमः।
तं ज्ञात्वा मानवः कस्मात् करिष्यति प्रलोभनम्॥

(अरुण० ७४)

वास्तवमें त्याग ही ब्राह्मणकी मुख्य वृत्ति है। उसे प्रतिग्रहसे सर्वथा दूर रहना चाहिये। ब्राह्मणोंद्वारा प्रतिग्रहके भीषण दोषोंको समझकर प्रतिग्रह न लेनेके अनेकों दृष्टान्त पुराणादि ग्रन्थोंमें भरे पड़े हैं। यहाँ सप्तर्षियोंद्वारा राजाके दान न लेनेकी एक कथा दृष्टान्तस्वरूप उपन्यस्त की जाती है—बहुत पुराने समयकी बात है। एक बार पृथ्वीपर बारह वर्षोंतक वर्षा नहीं हुई। संसारमें घोर अकाल पड़ गया। सभी लोग भूखों मरने लगे। सप्तर्षि भी भूखसे व्याकुल होकर इधर-उधर भटकने लगे। घूमते-घूमते ये लोग वृषादर्भि राजाके राज्यमें गये। उनका आगमन सुनकर राजा वहाँ आया और बोला—'मुनियो! मैं आपलोगोंको अन्न, ग्राम, घृत-दुग्धादि रस तथा तरह-तरहके रत्न दे रहा हूँ, आपलोग कृपया स्वीकार करें।'

ऋषियोंने कहा—'राजन्! राजाका दिया हुआ दान ऊपरसे मधुके समान मीठा जान पड़ता है, किंतु परिणाममें वह विषके समान हो जाता है। इस बातको जानते हुए भी हमलोग आपके प्रलोभनमें क्योंकर पड़ सकते हैं। ब्राह्मणोंका शरीर देवताओंका निवासस्थान है। यदि ब्राह्मण तपस्यासे शुद्ध एवं संतुष्ट रहता है तो वह सम्पूर्ण देवताओंको प्रसन्न रखता है। ब्राह्मण दिनभरमें जितना तप संग्रह करता है, उसको राजाका प्रतिग्रह क्षणभरमें इस प्रकार जला डालता है जैसे सूखे जंगलको प्रचण्ड दावानल। इसलिये आप इस दानके साथ कुशलपूर्वक रहें। जो इसे माँगें अथवा जिन्हें इसकी आवश्यकता हो, उन्हें ही यह दान दे दें।'

यों कहकर वे दूसरे रास्तेसे आहारकी खोजमें वनमें चले गये। राजाने अपने मन्त्रियोंको गूलरके फलोंमें सोना भर-भरकर ऋषियोंके मार्गमें रखवा देनेका आदेश दिया। उनके सेवकोंने ऐसा ही किया। महर्षि अत्रिने जब उनमेंसे एकको उठाया, तब फल बड़ा वजनदार मालूम हुआ। उन्होंने कहा—हमारी बुद्धि इतनी मन्द नहीं हुई है, हम सो नहीं रहे हैं। हमें मालूम है इनके भीतर सुवर्ण है। यदि आज हम इन्हें ले लेते हैं तो परलोकमें हमें इसका कटु परिणाम भोगना पड़ेगा।'

यों कहकर दृढ़तापूर्वक नियमोंका पालन करनेवाले वे ऋषिगण चमत्कारपुरकी ओर चले गये। घूमते-घूमते वे मध्यपुष्करमें गये, जहाँ अकस्मात् आये हुए शुनःसख नामक एक परिव्राजकसे उनकी भेंट हुई। वहाँ उन्हें एक बहुत बड़ा सरोवर दिखायी दिया। उसका जल कमलोंसे ढँका हुआ था। वे सब-के-सब उस सरोवरके किनारे बैठ गये। उसी समय शुनःसखने पूछा—'महर्षियो! आप सब लोग बताइये, भूखकी पीडा कैसी होती है?'

ऋषियोंने कहा—'शस्त्रास्त्रोंसे मनुष्यको जो वेदना होती है, वह भी भूखके सामने मात हो जाती है। पेटकी आगसे शरीरकी समस्त नाड़ियाँ सूख जाती हैं। आँखोंके आगे अँधेरा छा जाता है, कुछ सूझता नहीं। भूखकी आग प्रज्वलित होनेपर प्राणी गूँगा, बहरा, जड़, पंगु, भयंकर तथा मर्यादाहीन हो जाता है। इसलिये अन्न ही सर्वोत्तम पदार्थ है।'

अतः अन्नदान करनेवालेको अक्षय तृप्ति और सनातन स्थिति प्राप्त होती है। चन्दन, अगर, धूप और शीतकालमें ईंधनका दान अन्नदानके सोलहवें भागके बराबर भी नहीं हो सकता। दम, दान और यम—ये तीन मुख्य धर्म हैं। इनमें भी दम विशेषतः ब्राह्मणोंका सनातन धर्म है। दम तेजको बढ़ाता है। जितेन्द्रिय पुरुष जहाँ कहीं भी रहता है, उसके लिये वही स्थान तपोवन बन जाता है। विषयासक्त मनुष्यके मनमें भी दोषोंका उद्भावन होता है, पर जो सदा शुभ कर्मोंमें ही प्रवृत्त है, उसके लिये तो घर भी तपोवन ही है। केवल शब्द-शास्त्र (व्याकरण)-में ही लगे रहनेसे मोक्ष नहीं होता, मोक्ष तो एकान्तसेवी, यम-नियमरत, ध्यानपरायण

पुरुषको ही प्राप्त होता है। अङ्गोंसहित वेद भी अजितेन्द्रियको पवित्र नहीं कर सकते। जो चेष्टा अपनेको बुरी लगे, उसे दूसरेके लिये भी आचरण न करे—यही धर्मका सार है। जो परायी स्त्रीको माताके समान, पर-धनको मिट्टीके समान तथा संसारके सभी भूतोंको अपने ही समान देखता है, वही ज्ञानी है। सम्पूर्ण प्राणियोंके हितका ध्यान रखनेवाला प्राणी मोक्षको प्राप्त करता है।'

तदनन्तर ऋषियोंके हृदयमें विचार हुआ कि इस सरोवरमेंसे कुछ मृणाल निकाले जायँ। पर उस सरोवरमें प्रवेश करनेके लिये एक ही दरवाजा था और इस दरवाजेपर खड़ी थी राजा वृषादर्भिकी कृत्या, जिसे उसने अपनेको अपमानित समझकर ब्राह्मणोंद्वारा अनुष्ठान कराकर सप्तर्षियोंकी हत्याके लिये भेजा था। सप्तर्षियोंने जब उस विकराल राक्षसीको वहाँ खड़ी देखा, तब उन्होंने उसका नाम तथा वहाँ खड़ी रहनेका प्रयोजन पूछा। यातुधानी बोली—'तपस्वियो! मैं जो कोई भी होऊँ, तुम्हें मेरा परिचय पूछनेकी आवश्यकता नहीं है। तुम इतना ही जान लो कि मैं इस सरोवरकी रक्षिका हूँ।'

ऋषियोंने कहा—'भद्रे! हमलोग भूखसे व्याकुल हैं। अतः तुम यदि आज्ञा दो तो हमलोग इस तालाबसे कुछ मृणाल उखाड़ लें।' यातुधानी बोली—'एक शर्तपर तुम ऐसा कर सकते हो। एक-एक आदमी आकर अपना नाम बताये और प्रवेश करे।' उसकी बात सुनकर महर्षि अत्रि समझ गये कि यह राक्षसी कृत्या है और हम सबको वध करनेकी इच्छासे आयी है। तथापि भूखसे व्याकुल होनेके कारण उन्होंने उत्तर दिया—'कल्याणि! पापसे त्राण करनेवालेको अरात्रि कहते हैं और उनसे बचानेवाला अत्रि कहलाता है। पापरूप मृत्युसे बचानेवाला होनेके कारण ही मैं अत्रि हूँ।' यातुधानी बोली—'तेजस्वी महर्षे! आपने जिस प्रकार अपने नामका तात्पर्य बतलाया है, वह मेरी समझमें आना बड़ा कठिन है। अच्छा, आप तालाबमें उतरिये।'

इसी प्रकार वसिष्ठने कहा—'मेरा नाम वसिष्ठ है। सबसे श्रेष्ठ होनेके कारण लोग मुझे वरिष्ठ भी कहते हैं।' यातुधानी बोली—'मैं इस नामको याद नहीं रख सकती। आप जाइये, तालाबमें प्रवेश कीजिये।' कश्यपने कहा—'कश्य नाम है शरीरका, जो उसका पालन करता हो, वह कश्यप है। 'कु' अर्थात् पृथ्वीपर वम—वर्षा करेवाला सूर्य भी मेरा ही स्वरूप है—अतः मैं 'कुवम' भी हूँ। काशके फूलकी भाँति उज्ज्वल होनेसे 'काश्य' भी समझो।' इसी प्रकार सभी ऋषियोंने अपने नाम बतलाये, किंतु वह किसीको भी ठीकसे न याद कर पायी, न व्याख्या ही समझी, अन्तमें शुनःसखकी पारी आयी। उन्होंने अपना नाम बतलाते हुए कहा—'यातुधानी! इन ऋषियोंने जिस प्रकार अपना नाम बतलाया है, उस तरह मैं नहीं बता सकता। मेरा नाम शुनःसखसख (धर्म-स्वरूप मुनियोंका मित्र) समझो।'

इसपर यातुधानीने कहा—'आप कृपया अपना नाम एक बार और बतलायें।' शुनःसखने कहा—'मैंने एक बार अपना नाम बतलाया। तुम उसे याद न कर बार-बार पूछती हो, इसलिये लो, मेरे त्रिदण्डकी मारसे भस्म हो जाओ।' यों कहकर उस संन्यासीके वेषमें छिपे इन्द्रने अपने त्रिदण्डकी आड़में गुप्त वज्रसे उसका विनाश कर डाला और सप्तर्षियोंकी रक्षा की तथा अन्तमें कहा—'मैं संन्यासी नहीं, इन्द्र हूँ। आप लोगोंकी रक्षा करनेके उद्देश्यसे ही मैं यहाँ आया था। राजा वृषादर्भिकी भेजी हुई अत्यन्त क्रूर कर्म करनेवाली यातुधानी कृत्या आपलोगोंका वध करनेकी इच्छासे यहाँ आयी हुई थी। अग्निसे इसका आविर्भाव हुआ था। इसीसे मैंने यहाँ उपस्थित होकर इस राक्षसीका वध कर डाला। तपोधनो! लोभका सर्वथा परित्याग करनेके कारण अक्षय लोकोंपर आपका अधिकार हो चुका है। अब आप यहाँसे उठकर वहीं चलिये।'

अन्तमें सप्तर्षिगण इन्द्रके साथ चले गये।

(महाभारत, अनुशासनपर्व, अध्याय ९३; स्कन्दपुराण, नागरखण्ड, अध्याय ३२; पद्मपुराण, सृष्टिखण्ड, अध्याय १९)

जिसका मन पदार्थों और कर्मोंमें आसक्त नहीं होता, वही योगी है। क्रिया करता है पर आसक्त नहीं होता। स्फुरणा हो पर आसक्ति नहीं, ऐसा सर्व-संकल्पोंका त्यागी ही योगारूढ है।

दस मानव-धर्म

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

महर्षि दधीचकी धृति

'भगवन्! स्वार्थीजन अपने स्वार्थके सम्मुख दूसरेका कष्ट नहीं देख पाते। वृत्रासुर आपकी अस्थियोंसे बने वज्रसे मर सकता है और आपकी कृपाके बिना ....' आगे बोला नहीं गया देवराजसे! उन्होंने लज्जासे मस्तक झुका लिया।

स्वर्गपर असुरोंका आधिपत्य हो गया था। उनके नायक वृत्रासुरने देवताओंके सब अस्त्र-शस्त्र निगल लिये थे। अमरावतीके सदनोंमें और नन्दनकाननमें असुर क्रीड़ा कर रहे थे तथा देवता गिरि-गुफाओंमें छिपते-भटकते फिर रहे थे। महर्षि दधीचकी अस्थिसे बने वज्रसे वृत्र मर सकता है, किंतु उन तपोधनपर आघात तो वृत्र-वधसे अधिक असम्भव—देवसमाज याचना करने आया था महर्षिसे!

'शरीर तो एक दिन जायगा ही। वह किसीका उपकार करता जाय, यह प्राणीका परम सौभाग्य!' महर्षि दधीचका लोकोत्तर धैर्य। समाधिमें स्थित होकर देहत्याग किया उन्होंने। अपने देहकी अस्थियोंका उनका दान-मानवताने जो महत्तम पुरुष दिये, उनमें भी महानतम महर्षि दधीच। धन्य दधीचकी धृति!

महर्षि वसिष्ठकी क्षमा

'कितनी निर्मल चन्द्रिका है!' देवी अरुन्धतीने रात्रिके एकान्तमें, उन्मुक्त गगनके नीचे ज्योत्स्नास्नात अपने आराध्य महर्षि वसिष्ठसे उनके वामपार्श्वमें बैठकर सहजभावसे कहा।

'यह चन्द्रिका इसी प्रकार दिशाओंको उज्ज्वल कर रही है, जैसे आजकल विश्वामित्रका तप लोकोंको समुज्ज्वल कर रहा है!' महर्षिने सोल्लास कहा।

सभाका शिष्टाचार नहीं, समूहमें दिखावेकी प्रशंसा नहीं, एकान्तमें पत्नीसे कहा गया यह वाक्य—हृदयका वास्तविक उद्गार! और विश्वामित्र कौन? वसिष्ठके परम शत्रु—महर्षिके सौ पुत्रोंकी हत्या करा देनेवाले। किसी भी प्रकार वसिष्ठको क्लेश देनेको नित्य उद्यत वसिष्ठके पराभवके लिये ही जिनकी तपस्या थी।

उस दिन, उस समय भी विश्वामित्र वहीं थे। सशस्त्र वसिष्ठको मार देनेको उद्यत, अवसरकी प्रतीक्षामें झाड़ियोंमें छिपे विश्वामित्र—किंतु महर्षि वसिष्ठकी यह क्षमा, विपक्षीके अपराधकी पूर्ण विस्मृति और उसके गुणका ग्रहण—शस्त्र फेंककर महर्षिके पदोंपर गिर गये विश्वामित्र तो क्या आश्चर्यकी बात थी। यह है क्षमा!

अर्जुनका दम

'जैसे कुन्तीदेवी मेरी माता हैं, जैसे इन्द्राणी शची मेरी माता हैं, वैसे ही कुरुकुलकी जननी आप भी मेरी माता हैं। आप अपने इस पुत्रपर प्रसन्न हों!' एकान्तमें रात्रिके समय, स्वर्गकी सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी अप्सरा उर्वशी कामातुर आयी थी, देवराज इन्द्रके आदेशसे आयी थी और जितना शृङ्गार सम्भव था—भली प्रकार सजकर आयी थी।

मध्यम पाण्डव अर्जुनका लोकोत्तर मनोनिग्रह—उर्वशीका रूप, उसकी आतुर अनुनय-विनय व्यर्थ और व्यर्थ उसका शाप! दम (मनके संयम) और सदाचारके व्रतीको कोई शाप दे—आशीर्वाद बनकर रहना होगा उसे। अर्जुनके लिये सहायक बना वह शाप।

लिखित ऋषिका अस्तेय

बड़े भाई शंखके उपवनसे एक फलमात्र खा लिया था। बड़े भाईका उपवन—अनुमति आवश्यक है, ध्यान नहीं रहा; किंतु बड़े भाई कहते हैं—यह कर्म चोरीकी परिभाषामें आयेगा—पाप है तो प्रायश्चित्त भी होना ही चाहिये।

'तुम मर्यादाका पालन करानेवाले हो—उसे बदलनेवाले नहीं। मर्यादाके निर्माता हम हैं—हम जानते हैं कि उचित क्या है।' लिखितने डाँट दिया नरेशको। वे चोरीका दण्ड लेने आये—नरेश क्यों कहता है कि वह क्षमा कर सकता है। चोरीका दण्ड—विवश नरेशको उनके हाथ कटवा देने पड़े।

'मैं दण्ड ले आया!' दोनों हाथ कट गये, किंतु मुखपर उल्लास कि निष्पाप हो गये। महातापस अग्रजका प्रभाव पीछे हाथ दे दे—यह भिन्न बात है। दूसरे दिन तर्पण करते समय ज्यों-के-त्यों हाथ आ गये!

देवमाता अदितिका शौच

पवित्रताके प्रतीक हैं देवता—देवताओंकी माता हैं जो, उनका शौच—उनकी पवित्रताका वर्णन वाणी कैसे करेगी? उनकी आराधना—परमपुरुषकी आराधनामें नित्य संलग्ना हैं वे। वे परमपुरुष भी उनको वामनरूपमें माँ बनानेको

उत्कण्ठित हुए—शौचाचारका अपार माहात्म्य।

अद्रोहकका इन्द्रिय-निग्रह

'मैं अपनी शय्यापर ही इन्हें शयन कराऊँगा। इनकी रक्षा—इन लोकोत्तर सुन्दरीकी रक्षा लोकाचारके विपरीत व्यवहारके बिना मुझे दीखती नहीं। आपको यह स्वीकार हो तो इन्हें यहाँ रखें!' अद्रोहककी यह बात स्वीकार कर ली राजकुमारने। उन्हें प्रवासमें जाना था। परम धार्मिक अद्रोहकको छोड़कर उनकी अत्यन्त रूपवती पत्नीकी रक्षा करनेवाला दूसरा कोई उन्हें दीखता नहीं था।

'मित्र! मैंने जो कुछ किया था—लोकापवादने उसे व्यर्थ कर दिया। मैं उस लोकापवादको नष्ट कर दूँगा।' छः महीनेपर जब राजकुमार लौटे—उनकी पत्नीके सम्बन्धमें जितने मुख, उतनी बातें। अद्रोहकके यहाँ वे पहुँचे तो आँगनमें काष्ठचिता सजी मिली।

'पीठकी ओर तुम्हारी स्त्रीको करके, अपनी पत्नीकी ओर मुख करके मैं सदा एक शय्यापर सोया हूँ। तुम्हारी स्त्रीके स्तन भी मेरी पीठमें जब स्पर्श किये हैं—मुझे माताके स्तनका बोध हुआ है। यदि मेरा भाव सदा शुद्ध रहा है तो अग्निदेव मेरे लिये शीतल रहें।' प्रज्वलित चितामें प्रवेश किया अद्रोहकने—ऐसे इन्द्रिय-निग्रही लोकोत्तर महापुरुषके रोमोंके भी स्पर्शकी शक्ति अग्निदेवमें कहाँ हो सकती है। अद्रोहकका वस्त्रतक नहीं जला। अद्रोहकपर दोष लगानेवालोंके मुँहपर कोढ़ हो गया!

महाराज जनककी बुद्धि

सच्ची 'धी' जो सत्-असत्का ठीक-ठीक निर्णय कर ले। जो असत्में भूलकर भी प्रवृत्त न हो और सदा सत्के ही सम्मुख रहे। इस प्रकारकी सच्ची बुद्धिके प्रतीक महाराज जनक—वे नित्य अनासक्त, ज्ञानियोंके भी गुरु, मिथिलानरेश। 'धी'की असफलता है देहासक्ति—वह धन्य तो हुई महाराज विदेहमें।

महर्षि कृष्णद्वैपायन व्यासकी विद्या

'व्यासोच्छिष्टं जगत् सर्वम्।' यह सारा विश्व-साहित्य—विश्वकी सम्पूर्ण विद्या व्यासजीकी जूठन है। अर्थ, धर्म, काम, मोक्षका सम्पूर्ण वर्णन किया उन्होंने। वेदोंका विभाजन, पुराणोंका प्रणयन—पञ्चम वेद महाभारतका निर्माण। यही घोषणा कर सकते थे—'जो यहाँ है वही सर्वत्र है। जो यहाँ (महाभारतमें) नहीं, वह और कहीं नहीं।'

धर्म एवं न्यायपूर्वक अर्जित अर्थ, उस अर्थसे धर्मविहित कामका सेवन तथा दानादि धर्माचरण, धर्मका आचरण भी अर्थ या कामकी प्राप्तिके लिये नहीं—मोक्षके लिये—यही आदर्श विद्या है। वह तो अविद्या है,जो मनुष्यको अधर्मकी ओर, भोगकी ओर प्रवृत्त करती है। विद्याके परमाचार्य—विश्वके वास्तविक गुरु हैं भगवान् व्यास। जगत्को विद्याका आलोक देनेके लिये ही तो श्रीहरिने यह अवतार धारण किया है।

महाराज हरिश्चन्द्रका सत्य

राज्य गया, धन गया, वैभव गया। अयोध्याकी महारानीको बेचना पड़ा, वे दासी बनीं और स्वयं बिकना पड़ा—स्वयं चाण्डालके हाथों बिककर श्मशानका चौकीदार बनना पड़ा—इतनेपर भी सीमा नहीं। इकलौता पुत्र—अपनी परम सती पत्नी उस पुत्रकी लाश लिये क्रन्दन करती सम्मुख—श्मशानका कर लिये बिना हरिश्चन्द्र अपने पुत्रका शव फूँकनेकी अनुमति दे नहीं सकते। 'हरिश्चन्द्रका सत्य—सत्य ही परमेश्वर है' यह महात्मा गाँधीने इस युगमें कहा; किंतु हरिश्चन्द्रके सत्यने त्रेतामें परमेश्वरको विवश किया था श्मशानमें प्रकट होनेके लिये।

भगवान् नारायणका अक्रोध

'मन्मथ! देवाङ्गनाओ! वायुदेव, ऋतुराज! आप सबका स्वागत! आप सब इस आश्रममें आ गये हैं तो कृपा कर हमारा आतिथ्य ग्रहण करें।'

प्रसन्न सस्मित श्रीमुख भगवान् नारायण। क्षोभकी रेखातक नहीं भालपर। कामदेव तथा उसके सहचरोंकी आश्वासन मिला, अन्यथा, उनके तो प्राण ही सूख गये थे—यदि ये क्रोध करें—भगवान् रुद्रका कोप स्मरण आ गया मदनको।

देवराज इन्द्र नित्य शङ्कालु हैं तपस्वियोंके तपसे। उनका आदेश—अलकनन्दाका दिव्य उपकूल वसन्त-श्रीसे झूम उठा था। मलयमारुत, कोकिलकी काकली, अप्सराओंके नृत्य-संगीत तथा उनकी उन्मद क्रीड़ा—मदनके विश्वजयी पञ्चशर व्यर्थ हो गये और काम पराजित हो गया। पराजित काम भयसे काँपा, किंतु पराजित था वहाँ उसका छोटा भाई क्रोध भी। आदि ऋषि भगवान् नारायण मुसकराते स्वागत कर रहे थे।

देवोपासना

जीवनमें उपासनाका विशेष महत्त्व है। जब मनुष्य अपने जीवनका वास्तविक लक्ष्य निर्धारित कर लेता है, तब वह तन-मन-धनसे अपने उस लक्ष्यकी प्राप्तिमें संलग्न हो जाता है। मानवका वास्तविक लक्ष्य है भगवत्प्राप्ति। इस लक्ष्यको प्राप्त करनेके लिये उसे यथासाध्य संसारकी विषय-वासनाओं और भोगोंसे दूर रहकर भगवदाराधन एवं अभीष्टदेवकी उपासनामें संलग्न होनेकी आवश्यकता पड़ती है। जिस प्रकार गङ्गाका अविच्छिन्न प्रवाह समुद्रोन्मुखी होता है, उसी प्रकार भगवद्-गुण-श्रवणके द्वारा द्रवीभूत निर्मल, निष्कलंक, परम पवित्र अन्तःकरणका भगवदुन्मुख हो जाना वास्तविक उपासना है—

मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ॥

(श्रीमद्भा० ३। २९। ११)

इसके लिये आवश्यक है कि चित्त संसार और तद्विषयक राग-द्वेषादिसे विमुक्त हो ज़ाय। शास्त्रों और पुराणोंकी उक्ति है—'**देवो भूत्वा यजेद्देवान् नादेवो देवमर्चयेत्।**' देव-पूजाका अधिकारी वही है, जिसमें देवत्व हो। जिसमें देवत्व नहीं, वास्तवमें उसे देवार्चनसे पूर्ण सफलता प्राप्त नहीं होती। अतः उपासकको भगवदुपासनाके लिये काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य, अभिमान आदि दुर्गुणोंका त्याग करके अपनी आन्तरिक शुद्धि करनी चाहिये। साथ ही शास्त्रोक्त आचार-धर्मको स्वीकार करके बाह्य-शुद्धि कर लेनी चाहिये, जिससे उपासकके देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार तथा अन्तरात्माकी भौतिकता एवं लौकिकताका समूल उन्मूलन हो सके और उनमें रसात्मकता तथा पूर्ण दिव्यताका आविर्भाव हो जाय। ऐसा जब हो सकेगा तभी वह उपासनाके द्वारा निखिल-रसामृतमूर्ति सच्चिदानन्दघन भगवत्स्वरूपकी अनुभूति प्राप्त करनेमें समर्थ हो सकेगा।

मनुष्यकी प्रकृति, स्वभाव और रुचिमें वैभिन्न्य रहता है अर्थात् सबका स्वभाव, सबकी प्रकृति और सबकी रुचि एक-जैसी नहीं होती। इसलिये शास्त्र-पुराणोंमें देवोपासनाके विभिन्न प्रकार प्रस्तुत किये गये हैं, जिससे प्रत्येक व्यक्ति अपनी रुचि और प्रकृतिके अनुसार भगवत्प्राप्तिके लिये अपने इष्टकी उपासनामें संलग्न हो सके। यही कारण है कि शास्त्रकारोंने एक ही ब्रह्मका कई रूपोंमें वर्णन किया है। '**एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति।**' साथ ही अनेक रूपोंमें और अरूपमें भी उनकी उपासनाका विधान प्रस्तुत किया है। इस प्रकार साधक अपनी मनःस्थितिके अनुसार अपने इष्टका निश्चय कर सुविधापूर्वक उपासनामें संलग्न होकर सिद्धि प्राप्त कर सकता है। उपासनामें निर्गुण-निराकार, सगुण-साकार—कोई भी भगवत्स्वरूप लक्ष्य बनाया जा सकता है। उपासनामें भक्तिकी प्रमुखता मानी गयी है। जो व्यक्ति जितना मनोयोगपूर्वक अपने इष्टदेवकी सेवा-अर्चा-पूजा और आराधना करता है, उसकी उपासना उतनी ही प्रगाढ़ होती है। यह उपासना नित्य और नैमित्तिक दो प्रकारसे की जाती है। नित्योपासनामें रागानुगा भक्तिका बहुत महत्त्व बतलाया गया है। जैसे एक अबोध बालकका आश्रय उसकी जननी ही है। माताके बिना वह रह नहीं सकता। जैसे खग-शावक अधीरतापूर्वक अपने मातृ-खगकी प्रतीक्षा करता है और बछड़ा चरनेके लिये गयी हुई अपनी माता गौके लिये अधीर होकर प्रतीक्षा करता है, उसी प्रकार किसी भक्तके लिये उसके इष्टदेवका क्षणभरका वियोग भी असह्य होता है। अतः नित्य-निरन्तर अपने इष्टके प्रति उसकी सेवा-पूजा-आराधना चलती रहती है। इसके बदलेमें उसे अपने आराध्यसे कुछ चाहिये नहीं। वह तो अपने आराध्यके सुखमें सुखी, प्रसन्नतामें प्रसन्न रहता है। वह मात्र अपने आराध्यकी प्रीति और प्रेमका आकांक्षी होता है। इस प्रकारके साधक निष्काम होते हैं। वे भगवान्से कोई लौकिक वस्तु प्रायः नहीं माँगते।

परंतु सामान्यतः संसारमें अज्ञानवश मनुष्य स्वाभाविकरूपमें भौतिक सुखोंकी आकांक्षा रखते हैं। लौकिक सुख-सुविधाओंके प्रति उनके मनमें आकर्षण रहता ही है। यह आकर्षण सत्संग, भगवद्भक्ति और उपासनासे ही समाप्त होता है। अतः पुराण और शास्त्र सम्पूर्ण उपासनाका सविस्तार वर्णन करते हैं। इसमें उनका तात्पर्य यही है कि सांसारिक सुखोंमें और भौतिक

वस्तुओंमें प्रीति रखनेवाले लोग भी किसी प्रकार भगवदुन्मुख तो हो जायँ। भगवान्‌से उनका सम्बन्ध तो जुड़े। उन्हें भगवदाराधनसे लौकिक सुखोंकी प्राप्ति तो होगी ही, पर जब साथ ही सत्संग आदिके द्वारा भगवत्तत्त्वका ज्ञान हो जानेपर क्षणभरमें भगवत्प्राप्तिकी सम्भावना भी प्रबल हो जायगी, तब उनका आत्मकल्याण भी हो सकेगा।

यहाँ शास्त्रोंमें वर्णित देवोपासनाकी कुछ विधियाँ प्रस्तुत की जा रही हैं—

नित्योपासनामें दो प्रकारकी पूजा बतायी गयी है—(१) मानसपूजा और (२) बाह्यपूजा। साधकको दोनों प्रकारकी पूजा करनी चाहिये, तभी पूजाकी पूर्णता है। अपनी सामर्थ्य और शक्तिके अनुसार बाह्यपूजाके उपकरण अपने आराध्यके प्रति श्रद्धा-भक्तिपूर्वक निवेदन करना चाहिये। शास्त्रोंमें लिखा है कि **'वित्तशाठ्यं विवर्जयेत्'** अर्थात् देव-पूजनादि कार्योंमें कंजूसी नहीं करनी चाहिये। सामान्यतः जो वस्तु हम अपने उपयोगमें लेते हैं, उससे हल्की वस्तु अपने आराध्यको अर्पण करना उचित नहीं है। वास्तवमें भगवान्‌को वस्तुकी आवश्यकता नहीं है, वे तो भावके भूखे हैं। वे उपचारोंको तभी स्वीकार करते हैं, जब निष्कपटभावसे व्यक्ति पूर्ण श्रद्धा और भक्तिसे निवेदन करता है।

बाह्यपूजाके विविध विधान हैं, यथा—राजोपचार, सहस्रोपचार, चतुःषष्ठ्युपचार, षोडशोपचार और पञ्चोपचार-पूजन आदि। यद्यपि सम्प्रदायभेदसे पूजनादिमें किञ्चित् भेद भी हो जाते हैं, परंतु सामान्यतः सभी देवोंके पूजनकी विधि समान है। गृहस्थ प्रायः स्मार्त होते हैं, जो पञ्चदेवोंकी पूजा करते हैं। पञ्चदेवोंमें १-गणेश, २-दुर्गा, ३-शिव, ४-विष्णु और ५-सूर्य हैं। ये पाँचों देव स्वयंमें पूर्ण ब्रह्म-स्वरूप हैं। साधक इन पञ्चदेवोंमें एकको अपना इष्ट मान लेता है, जिन्हें वह सिंहासनपर मध्यमें स्थापित करता है। फिर यथालब्धोपचार-विधिसे उनका पूजन करता है। संक्षेप और विस्तार-भेदसे अनेक प्रकारके उपचार हैं, जैसे—चौंसठ, अठारह, सोलह, दस और पाँच।

इन उपचारोंके उपलब्ध न होनेपर श्रद्धा और भावनापूर्वक पञ्चोपचार-पूजनकी विधि भी शास्त्रोंमें बतायी गयी है। पञ्चोपचार-पूजनमें गन्ध, पुष्प, धूप, दीप और नैवेद्य प्रमुख हैं।

भगवत्पूजा अतीव सरल है, जिसमें उपचारोंका कोई विशेष महत्त्व नहीं है। महत्त्व भावनाका है। समयपर जो भी उपचार उपलब्ध हो जाय, उन्हें श्रद्धा-भक्तिपूर्वक निश्छल दैन्यभावसे भगवदर्पण कर दिया जाय तो उस पूजाको भगवान् अवश्य स्वीकार करते हैं।

मानसपूजा

इस बाह्यपूजाके साथ-साथ मानसपूजाका भी अत्यधिक महत्त्व है। पूजाकी पूर्णता मानसपूजनमें ही हो जाती है। भगवान्‌को किसी वस्तुकी आवश्यकता नहीं, वे तो भावके भूखे हैं। संसारमें ऐसे दिव्य पदार्थ उपलब्ध नहीं हैं, जिनसे परमेश्वरकी पूजा की जा सके। इसलिये पुराणोंमें मानस-पूजाका विशेष महत्त्व माना गया है। मानसपूजामें भक्त अपने इष्टदेवको मुक्तामणियोंसे मण्डित कर स्वर्णसिंहासनपर विराजमान करता है। स्वर्गलोककी मन्दाकिनी गङ्गाके जलसे अपने आराध्यको स्नान कराता है, कामधेनु गौके दुग्धसे पञ्चामृतका निर्माण करता है। वस्त्राभूषण भी दिव्य अलौकिक होते हैं। पृथ्वीरूपी गन्धका अनुलेपन करता है। अपने आराध्यके लिये कुबेरकी पुष्पवाटिकासे स्वर्णकमल-पुष्पोंका चयन करता है। भावनासे वायुरूपी धूप, अग्निरूपी दीपक तथा अमृतरूपी नैवेद्य भगवान्‌को अर्पण करनेकी विधि है। इसके साथ ही त्रिलोककी सम्पूर्ण वस्तु, सभी उपचार सच्चिदानन्दघन परमात्मप्रभुके चरणोंमें भावनासे भक्त अर्पण करता है। यह है मानसपूजाका स्वरूप। इसकी एक संक्षिप्त विधि भी पुराणोंमें वर्णित है। जो नीचे लिखी जा रही है—

१-ॐ लं पृथिव्यात्मकं गन्धं परिकल्पयामि।

(प्रभो! मैं पृथिवीरूप गन्ध (चन्दन) आपको अर्पित करता हूँ।)

२-ॐ हं आकाशात्मकं पुष्पं परिकल्पयामि।

(प्रभो! मैं आकाशरूप पुष्प आपको अर्पित करता हूँ।)

३-ॐ यं वाय्वात्मकं धूपं परिकल्पयामि।

(प्रभो! मैं वायुदेवके रूपमें धूप आपको प्रदान करता हूँ।)

४-ॐ रं वह्न्यात्मकं दीपं दर्शयामि।

(प्रभो! मैं अग्निदेवके रूपमें दीपक आपको प्रदान

करता हूँ।)

५-ॐ वं अमृतात्मकं नैवेद्यं निवेदयामि।

(प्रभो! मैं अमृतके समान नैवेद्य आपको निवेदन करता हूँ।)

६-ॐ सौं सर्वात्मकं सर्वोपचारं समर्पयामि।

(प्रभो! मै सर्वात्माके रूपमें संसारके सभी उपचारोंको आपके चरणोंमें समर्पित करता हूँ।) इन मन्त्रोंसे भावनापूर्वक मानसपूजा की जा सकती है।

पूजाके पाँच प्रकार

शास्त्रोंमें पूजाके पाँच प्रकार बताये गये हैं—अभिगमन, उपादान, योग, स्वाध्याय और इज्या। देवताके स्थानको साफ करना, लीपना, निर्माल्य हटाना—ये सब कर्म 'अभिगमन'के अन्तर्गत हैं। गन्ध, पुष्प आदि पूजा-सामग्रीका संग्रह 'उपादान' है। इष्टदेवकी आत्मरूपसे भावना करना 'योग' है। मन्त्रार्थका अनुसंधान करते हुए जप करना, सूक्त, स्तोत्र आदिका पाठ करना, गुण, नाम, लीला आदिका कीर्तन करना तथा वेदान्तशास्त्र आदिका अभ्यास करना—ये सब 'स्वाध्याय' हैं। उपचारोंके द्वारा अपने आराध्यदेवकी पूजा 'इज्या' है। ये पाँच प्रकारकी पूजाएँ क्रमशः सार्ष्टि, सामीप्य, सालोक्य, सायुज्य और सारूप्य मुक्तिको देनेवाली हैं।

विशिष्ट उपासना

विशेष अवसरोंपर जो देवाराधन किया जाता है, जैसे—नवरात्रके अवसरपर दुर्गापूजा, सप्तशतीका पाठ, रामायण आदिके नवाह-पाठ, लक्षपार्थिवार्चन, महारुद्राभिषेक, श्रीमद्भागवतसप्ताह आदि विशेष प्रकारके अनुष्ठान विशिष्ट उपासनाएँ हैं। आरोग्यता एवं दीर्घजीवन-प्राप्तिके निमित्त महामृत्युञ्जयका जप एवं धन, संतान तथा अन्य कामनाओंके निमित्त किये जानेवाले अनुष्ठान भी इन्हींमें आते हैं।

मन्त्रानुष्ठान

मन्त्र शब्दका अर्थ है 'संसारी जीवके त्राणकारक, मननीय, ज्ञानमय अक्षरोंका समूह।'—

मननं सर्ववेदित्वं त्राणं संसार्यनुग्रहः।
मननात् त्राणधर्मत्वान्मन्त्र इत्यभिधीयते॥

(नार० पु० १। ६४। ३)

मन्त्र प्राप्त होनेपर भी यदि उसका अनुष्ठान न किया जाय, सविधि पुरश्चरण करके उसे सिद्ध न कर लिया जाय, तो उससे उतना लाभ नहीं होता जितना होना चाहिये। श्रद्धा, भक्ति-भाव और विधिके संयोगसे मन्त्रोंके अक्षर अन्तर्हृदयमें प्रवेश कर अनुप्राणित करने लगते हैं। अनुष्ठानमें कुछ नियमोंकी आवश्यकता होती है। यहाँ संक्षेपमें उनका दिग्दर्शन कराया जाता है।

मन्त्रानुष्ठानके योग्य स्थान

मन्त्रानुष्ठान स्वयं करना अथवा सदाचारी विद्वान् ब्राह्मणके द्वारा कराना चाहिये। किसी पुण्यक्षेत्र, नदीतट, पवित्र वन-पर्वत, संगम, उद्यान, तुलसीकानन, गोशाला, देवालय, बिल्व, पीपल या आँवलेके वृक्षके नीचे अथवा अपने घरमें मन्त्रका अनुष्ठान शीघ्र फलप्रद होता है। सूर्य, अग्नि, गुरु, चन्द्रमा, दीपक, जल, ब्राह्मण और गौओंके सामने बैठकर जप करना उत्तम माना गया है। मुख्य बात यह है कि जहाँ बैठकर जप करनेसे चित्तमें प्रसन्नता बढ़े, वही स्थान सर्वश्रेष्ठ है। घरसे दसगुना गोष्ठ, सौगुना जंगल, हजारगुना तालाब, लाखगुना नदीतट, करोड़गुना पर्वत, अरबोंगुना शिवालय और गुरुका संनिधान अनन्तगुना श्रेष्ठ है। जिस स्थानपर स्थिरतासे बैठनेमें किसी प्रकारकी आशंका न हो, म्लेच्छ, दुष्ट, बाघ, साँप आदि किसी प्रकारका विघ्न न डाल सकते हों, जहाँके लोग अनुष्ठानके विरोधी न हों, जिस देशमें सदाचारी और भक्त निवास करते हों, किसी प्रकारका उपद्रव अथवा दुर्भिक्ष न हो, गुरुजनोंकी संनिधि और चित्तकी एकाग्रता सहज-भावसे ही रहती हो, वही जपके लिये उत्तम स्थान है।

आहार-शुद्धि

भोजनके रससे ही शरीर, प्राण और मनका निर्माण होता है। म्लान चित्तमें देवता और मन्त्रके प्रसादका उदय नहीं होता। अशुद्ध भोजनसे रोग, क्षोभ और ग्लानि होती है। शुद्ध भोजनसे मन पवित्र होता है। अन्याय, बेईमानी, चोरी-डकैती आदिसे उपार्जित दूषित अन्नद्वारा शुद्ध चित्तका निर्माण होना असम्भवप्राय है। इसी प्रकार अशुद्ध स्थानमें रखा दूध, दही आदि या कुत्ते आदिसे स्पृष्ट पदार्थ भी त्याज्य हैं।

गौके दूध, दही, घी, श्वेत तिल, मूँग, कन्द, केला,

आम, नारियल, नारंगी, आँवला, साठी चावल, जौ, जीरा आदि हविष्यान्न व्रतोंमें उपादेय हैं। मधु, खारा नमक, तेल, लहसुन, प्याज, गाजर, उड़द, मसूर, कोदो, चना, बासी तथा परान्न त्याज्य है। जिन्हें भिक्षा लेनेका अधिकार है, उन संन्यासी आदिकोंके लिये भिक्षा परान्न नहीं है, पर भिक्षा सदाचारी, पवित्र, द्विजाति गृहस्थोंसे ही लेनी चाहिये।

मन्त्रानुष्ठानमें ब्रह्मचर्य एवं पवित्रतापूर्वक भू-शयन आदि आवश्यक हैं। अनुष्ठानकालमें कुटिल व्यवहार, क्षौर-कर्म, तैलाभ्यङ्ग आदि न करे तथा भोजन भी बिना भोग लगाये नहीं करना चाहिये। साधकको यथासम्भव पवित्र नदियों, देवखातों, तीर्थ, सरोवर, पुष्करिणी आदिमें मन्त्रोच्चारणपूर्वक स्नान करना चाहिये। यथाशक्ति तीनों समय संध्या और इष्टदेवकी पूजा करनी चाहिये। शिखा खोलकर, निर्वस्त्र होकर, एक वस्त्र पहनकर, सिरपर पगड़ी बाँधकर, अपवित्र होकर या चलते-फिरते जप करना निषिद्ध है। जपके समय माला पूरी हुए बिना बातचीत नहीं करनी चाहिये। जप समाप्त करने और प्रारम्भ करनेके पूर्व आचमन कर लेना चाहिये।

मलिन वस्त्र पहनकर, केश बिखेरकर और उच्चस्वरसे जप करना शास्त्रविरुद्ध है। जप करते समय इतने कर्म निषिद्ध हैं—आलस्य, जँभाई, नींद, छींकना, थूकना, डरना, अपवित्र अङ्गोंका स्पर्श और क्रोध। जापकको स्त्री, शूद्र, पतित, व्रात्य, नास्तिक आदिके साथ सम्भाषण, उच्छिष्ट मुखसे वार्तालाप, असत्य और कुटिल भाषण छोड़ देना चाहिये। अपने आसन, शय्या, वस्त्र आदिको शुद्ध एवं स्वच्छ रखना चाहिये। उबटन, इत्र, फूलमालाका उपयोग और गरम जलसे स्नान नहीं करना चाहिये। सोकर, बिना आसनके, चलते और खाते समय तथा बिना माला ढँके जो जप किया जाता है, उसकी गणना अनुष्ठानके जपमें नहीं होती। जिसके चित्तमें व्याकुलता, क्षोभ, भ्रान्ति हो, भूख लगी हो, शरीरमें पीड़ा हो, उसे और जहाँ स्थान अशुद्ध एवं अन्धकाराच्छन्न हो, वहाँ जप नहीं करना चाहिये। जूता पहने हुए अथवा पैर फैलाकर जप करना निषिद्ध है। और भी बहुत-से नियम हैं, उन्हें जानकर यथाशक्ति उनका पालन करना चाहिये। ये सब नियम मानस-जपके लिये नहीं हैं। शास्त्रकारोंने कहा है—

अशुचिर्वा शुचिर्वापि गच्छंस्तिष्ठन् स्वपन्नपि।
मन्त्रैकशरणो विद्वान् मनसैव सदाभ्यसेत्॥
न दोषो मानसे जाप्ये सर्वदेशेऽपि सर्वदा।

अर्थात् मन्त्रके रहस्यको जाननेवाला जो साधक एकमात्र मन्त्रकी ही शरण हो गया है, वह चाहे पवित्र हो या अपवित्र, सब समय—चलते-फिरते, उठते-बैठते, सोते-जागते मन्त्रका अभ्यास कर सकता है। मानस-जपमें किसी भी समय और स्थानको दोषयुक्त नहीं समझा जाता। कुछ मन्त्रोंके सम्बन्धमें अवश्य ही विभिन्न विधान है।

शास्त्रोंमें जप-यज्ञको सब यज्ञोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ कहा गया है। पद्म एवं नारदपुराणमें कहा गया है कि समस्त यज्ञ वाचिक जपकी तुलनामें सोलहवें हिस्सेके बराबर भी नहीं हैं। उपांशु-जपका फल वाचिक जपसे सौगुना और मानस जपका सहस्रगुना होता है। मानस जप वह है, जिसमें अर्थका चिन्तन करते हुए मनमें ही मन्त्रके वर्ण, स्वर और पदोंकी आवृत्ति की जाती है। उपांशु-जपमें कुछ-कुछ जीभ और होंठ चलते हैं, अपने कानोंतक ही उनकी ध्वनि सीमित रहती है, दूसरा कोई नहीं सुन सकता। वाचिक जपका वाणीके द्वारा उच्चारण किया जाता है। तीनों ही प्रकारके जपोंमें मनके द्वारा इष्टका चिन्तन होना चाहिये। मानसिक स्तोत्र-पाठ और उच्चस्वरसे उच्चारणपूर्वक मन्त्र-जप—ये दोनों निष्फल हैं। गौतमी-तन्त्रमें कहा गया है—'सुषुम्णाके द्वारा मन्त्रका उच्चारण होनेपर उसमें शक्ति-संचार होता है।' पहले ऐसी भावना करनी चाहिये कि मन्त्रका एक-एक अक्षर चिच्छक्तिसे ओतप्रोत है और परम अमृतस्वरूप चिदाकाशमें उसकी स्थिति है। ऐसी भावना करते हुए जप करनेसे पूजा, होम आदिके बिना ही मन्त्र अपनी शक्ति प्रकाशित कर देते हैं। जप करनेमें प्राण-बुद्धिसे सुषुम्णाके मूलदेशमें स्थित जीवरूपसे मन्त्रका चिन्तन करते हुए मन्त्रार्थ और मन्त्रचैतन्यके ज्ञानपूर्वक मन्त्रजप करनेका विधान है।

जपमें मालाका प्रयोग—साधकोंके लिये माला भगवान्के स्मरण और नाम-जपकी संख्या-गणनार्थ बड़ी ही सहायक होती है। इससे उतनी संख्या पूर्ण करनेके लिये सब समय प्रेरणा प्राप्त होती रहती है एवं उत्साह तथा लगनमें किसी

प्रकारकी कमी नहीं आती। जो लोग बिना संख्याके जप करते हैं, उन्हें इस बातका अनुभव होगा कि जब कभी जप करते-करते मन अन्यत्र चला जाता है, तब मालूम ही नहीं होता कि जप हो रहा था या नहीं या कितने समयतक जप बंद रहा। यह प्रमाद हाथमें माला रहनेपर या संख्यासे जप करनेपर नहीं होता। यदि मन कभी कहीं चला भी जाता है तो मालाका चलना बंद हो जाता है, संख्या आगे नहीं बढ़ती और यदि माला चलती रही तो जीभ भी अवश्य चलती ही रहेगी। कुछ ही समयमें ये दोनों मनको आकृष्ट करनेमें समर्थ हो सकेंगी।

माला प्रायः तीन प्रकारकी होती है। करमाला, वर्णमाला और मणिमाला। अँगुलियोंपर जो जप किया जाता है, वह करमाला-जप है। इसका नियम यह है कि अनामिकाके मध्यभागसे नीचेकी ओर चलें फिर कनिष्ठाके मूलसे अग्रभागतक और फिर अनामिका तथा मध्यमाके क्रमसे अग्रभागपर होकर तर्जनीके मूलतक जायँ। इस क्रमसे अनामिकाके दो, कनिष्ठाके तीन, पुनः अनामिकाका एक, मध्यभागका एक और तर्जनीके तीन पर्व—कुल दस संख्या होती है। मध्यमाके दो पर्व सुमेरुके रूपमें छूट जाते हैं। साधारण करमालाका यही क्रम है, परंतु अनुष्ठान-भेदसे इसमें अन्तर भी पड़ता है, जैसे—शक्तिके अनुष्ठानमें अनामिकाके दो पर्व, कनिष्ठाके तीन, पुनः अनामिकाका अग्रभाग एक, मध्यमाके तीन पर्व और तर्जनीका एक मूलपर्व—इस प्रकार दस संख्या पूरी होती है। श्रीविद्यामें इससे भिन्न नियम है। मध्यमाका मूल एक, अनामिकाका मूल एक, कनिष्ठाके तीन, अनामिका और मध्यमाके अग्रभाग एक-एक और तर्जनीके तीन, इस प्रकार दस संख्या पूरी होती है। करमालासे जप करते समय अँगुलियाँ अलग-अलग नहीं होनी चाहिये। हथेली थोड़ी मुड़ी रहनी चाहिये। मेरुका उल्लङ्घन और पर्वोंकी सन्धि (गाँठ)-का स्पर्श निषिद्ध है। हाथको हृदयके सामने लाकर अँगुलियोंको कुछ टेढ़ी करके वस्त्रसे उसे ढँककर दाहिने हाथसे ही जप करना चाहिये।

वर्णमालाका अर्थ है—अक्षरोंके द्वारा गणना करना। यह प्रायः अन्तर्जपमें काम आती है, परंतु बहिर्जपमें भी इसका निषेध नहीं है। वर्णमालाके द्वारा जप करनेका प्रकार यह है कि पहले वर्णमालाका एक अक्षर बिन्दु लगाकर उच्चारण कीजिये और फिर मन्त्रका इस क्रमसे अवर्गके सोलह, कवर्गसे पवर्गतकके पचीस और यवर्गके हकारतक आठ और पुनः एक लकार—इस प्रकार पचासतक गिनते जाइये, फिर लकारसे लौटकर अकारतक आ जाइये। सौकी संख्या पूरी हो जायगी। 'क्ष'को सुमेरु माना जाता है, उसका उल्लङ्घन नहीं होना चाहिये। संस्कृतमें 'त्र' और 'ज्ञ' स्वतन्त्र अक्षर नहीं, संयुक्ताक्षर माने जाते हैं। इसलिये उनकी गणना नहीं होती। वर्ग भी सात नहीं, आठ माने जाते हैं। आठवाँ शकारसे प्रारम्भ होता है। इसके द्वारा 'अं कं चं टं तं पं यं शं' यह गणना करके आठ बार जपना चाहिये। ऐसा करनेसे जपकी संख्या एक सौ आठ हो जाती है। ये अक्षर तो मालाके मणि हैं, इनका सूत्र है कुण्डलिनी-शक्ति। यह मूलाधारसे आज्ञाचक्रपर्यन्त सूत्ररूपसे विद्यमान है। उसीमें ये सब स्वर-वर्ण मणिरूपसे गुँथे हुए हैं। इन्हींके द्वारा आरोह और अवरोह-क्रमसे अर्थात् नीचेसे ऊपर और ऊपरसे नीचे जप करना चाहिये। इस प्रकार जो जप होता है, वह सद्यः सिद्धिप्रद होता है।

जिन्हें अधिक संख्यामें जप करना हो, उन्हें तो मणिमाला रखना अनिवार्य है। मणि (मनिया) पिरोये होनेके कारण इसे मणिमाला कहते हैं। यह माला अनेक वस्तुओंकी होती है, जैसे रुद्राक्ष, तुलसी, शङ्ख, पद्मबीज, जीवपुत्रक (इंगुदी), मोती, स्फटिक, मणि-रत्न, मूँगा, सुवर्ण, चाँदी, चन्दन और कुशमूल। इन सभीके मणियोंसे माला तैयार की जा सकती है। इनमें वैष्णवोंके लिये तुलसी और स्मार्त, शैव, शाक्त आदिके लिये रुद्राक्ष सर्वोत्तम है। एक चीजकी मालामें दूसरी चीज न लगायी जाय। विभिन्न कामनाओंके अनुसार भी मालाओंमें भेद होता है और देवताओंके अनुसार भी। इनका विचार कर लेना चाहिये। मालाके मणि (दाने) छोटे-बड़े न हों। एक सौ आठ दानोंकी माला सब प्रकारके जपोंमें काम आती है। ब्राह्मण-कन्याओंके द्वारा निर्मित सूतसे माला बनायी जाय तो सर्वोत्तम है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंके लिये क्रमशः श्वेत, रक्त, पीत और कृष्ण-वर्णके सूत्र श्रेष्ठ हैं।

रक्तवर्णका प्रयोग सब वर्णोंके लोग सब प्रकारके अनुष्ठानोंमें कर सकते हैं। सूतको तिगुना कर पुनः उसे तिगुना कर देना चाहिये। प्रत्येक मणिको गूँथते समय प्रणवके साथ एक-एक अक्षरका उच्चारण करते जाना चाहिये—जैसे—'ॐ अं' कहकर प्रथम मणि और 'ॐ आं' कहकर दूसरी मणि। बीचमें जो गाँठ देते हैं, उसके सम्बन्धमें विकल्प है। चाहे तो गाँठ दें चाहे तो न दें। दोनों ही बातें ठीक हैं। माला गूँथनेका मन्त्र अपना इष्टमन्त्र भी है। अन्तमें ब्रह्मग्रन्थि देकर सुमेरु गूँथे और पुनः ग्रन्थि लगाये। स्वर्ण आदिके सूत्रसे भी माला पिरोयी जा सकती है। रुद्राक्षके दानोंमें मुख और पुच्छका भेद भी होता है। मुख कुछ ऊँचा होता है और पुच्छ नीचा। पोहनेके समय यह ध्यान रखना चाहिये कि दानोंका मुख परस्परमें मिलता जाय अथवा पुच्छ। गाँठ देनी हो तो तीन फेरेकी अथवा ढाई फेरेकी लगानी चाहिये। ब्रह्मग्रन्थि भी लगा सकते हैं। इस प्रकार मालाका निर्माण करके उसका संस्कार करना चाहिये।

देवतातत्त्व—देवता मुख्यतया तैंतीस माने गये हैं। उनकी गणना इस प्रकार है—प्रजापति, इन्द्र, द्वादश आदित्य, आठ वसु और ग्यारह रुद्र। निरुक्तके दैवतकाण्डमें देवताओंके स्वरूपके सम्बन्धमें विचार किया गया है, वहाँके वर्णनसे यही तात्पर्य निकलता है कि वे कामरूप होते हैं। वेदान्तदर्शनमें कहा गया है कि देवता एक ही समय अनेक स्थानोंमें भिन्न-भिन्न रूपसे प्रकट होकर अपनी पूजा स्वीकार कर सकते हैं। शास्त्रोंमें देवताओंके ध्यानकी सुस्पष्ट विधि निर्दिष्ट है। उसी रूपमें उनका ध्यान एवं उपासना की जानी चाहिये। वेदोंमें प्रायः सभी देवताओंका वर्णन आया है, जैसे इन्द्रके लिये '**वज्रहस्तः पुरन्दरः।**' उनके कर्मका भी वर्णन है कि वे वर्षाके अधिपति हैं और वृत्रवध आदि कर्म करते हैं। यहाँ कुछ देवताओंके ध्यान और मन्त्र लिखे जाते हैं।

इन्द्र

दिक्पतियोंके स्वामी इन्द्रका ध्यान इस प्रकार करना चाहिये—इन्द्रका वर्ण पीला है, उनके शरीरपर मयूरपिच्छके सदृश सहस्र नेत्रोंके चिह्न हैं, उनके चार हाथ हैं, जिनमें वे क्रमशः अभय एवं वरमुद्रा तथा वज्र एवं अंकुश धारण किये हुए हैं। वे अनेक प्रकारके कौस्तुभ, माणिक्यादि आभूषण, स्वर्णकुण्डल एवं यज्ञोपवीत धारण किये ऐरावत हाथीपर इन्द्राणीके साथ विराजमान हैं। इन्द्रका मन्त्र है—'**ॐ इं इन्द्राय नमः।**'

अग्नि

अग्निका ध्यान इस प्रकार करना चाहिये—उनका वाहन छाग है। उनके सात हाथ हैं और सात जिह्वाओंसे सात ज्वालाएँ निकलती रहती हैं। शरीर स्थूल है, उनकी दायीं ओर स्वाहा और बायीं ओर स्वधा नामकी पत्नियाँ हैं। वे अपने हाथोंमें स्रुव, स्रुच्, तोमर एवं शक्ति आदि धारण किये हुए हैं। अग्निका मन्त्र है—'**ॐ रं वह्निचैतन्याय नमः।**'

कुबेर

कुबेरका ध्यान इस प्रकार है—धनाध्यक्ष कुबेर नवों निधियोंके स्वामी हैं। उनका वर्ण सुवर्णवत् पीत है। उनके दो हाथ हैं, जिनमें कुन्त एवं निधि लिये हैं और पीताम्बर धारण किये अति सुन्दर हैं। वे यक्ष गुह्यकोंके स्वामी हैं तथा सपत्नीक नरवाहन—पालकीपर सवार या अश्वारूढ कहे गये हैं। कुबेरके मन्त्र छोटे-बड़े कई हैं। छोटा प्रसिद्ध मन्त्र इस प्रकार है—'**ॐ वैश्रवणाय नमः**'।

वास्तुदेव

वास्तुपुरुषका ध्यान इस प्रकार करना चाहिये—वास्तुदेवताका शरीर नीले वर्णका है। वे शुभ स्थानपर सोये हुए हैं। उनके दो हाथ हैं, जिनमें मापदण्ड धारण किये हुए हैं; सब लोगोंके आश्रय एवं विश्वके बीज हैं। उन्हें जो प्रणाम करता है, उसके भयको वे नष्ट कर देते हैं। उनका मन्त्र है—'**ॐ वास्तोष्पतये नमः।**'

सभी साधना एवं उपासनाओंका अन्तिम फल भगवत्प्राप्ति या सायुज्य मुक्ति है। देवतालोग अपनी उपासनासे प्रसन्न होकर सांसारिक पुरुषार्थोंकी उपलब्धिके साथ भगवत्प्राप्तिमें भी सहायक होते हैं। ऊपर देवोपासनाकी संक्षिप्त विधि निर्दिष्ट है। विशेष ज्ञानकारीके लिये उपासनापरक पुराण, स्मृति, आगमादि ग्रन्थ देखने चाहिये।
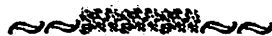
महाराष्ट्रके संत और धर्मशास्त्र

(डॉ॰ श्रीभीमाशंकरजी देशपांडे, एम्॰ ए॰, पी-एच्॰डी॰, एल्-एल्॰ बी॰)

धर्मशास्त्रकी प्राचीन परम्परा विश्वमें केवल भारत देशमें ही पायी जाती है। इस विषयके अनुरोधसे मराठी संतोंका धर्ममय उपदेश यहाँ संक्षेपमें उद्धृत किया जा रहा है।

संत ज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं कि 'विहित कर्म धर्मका प्रमुख अङ्ग है।' स्वधर्मानुष्ठानके अतिरिक्त अन्य क्रियमाण कर्म व्यवसाय कहलाता है। भगवान् श्रीकृष्णने पार्थको धर्मका जो अर्थ बताया उसका भाष्य करते हुए ज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं—

एथ वाडील जें जें करिती।
तया नाम धर्मु ठेविती।
तेंचि येर अनुष्ठिती।
सामान्य सकट्ठ॥

(ज्ञाने॰ अ॰ ३। १५८)

अर्थात् अपने पूर्वज जो कर्म करते आये हैं, उसे धर्म समझना चाहिये। सामान्यजन उसका ही अनुष्ठान करते हैं।

वेदशास्त्र हित एवं अहितका मार्गदर्शन करते हुए सबपर समान कृपा करनेवाले हैं। (ज्ञा॰ अ॰ १६। ४४३)

जिन्हें अपनी आत्माका उद्धार करना है, उन्हें श्रुति-स्मृतिके सिद्धान्तोंका आचरण करना आवश्यक है। (ज्ञा॰ अ॰ १६। ४)

धर्मका यथार्थ शासन करनेवाला ही राजा कहलाता है। इसमें राजाके साथ समाजका नियमन है। राजा धर्मका ही रूप होता है। संत नामदेवजीका वचन है—

देही धर्मि हित करी। द्वैत भाव चित्तिन धरी॥
सर्वाभूती नमस्कारी। एक आत्मा म्हणोनि॥

सभी प्राणियोंमें आत्मभाव करना श्रेष्ठ है। यहाँ भक्तिके साथ अद्वैतका अधिष्ठान है।

संत एकनाथ महाराजका कहना है—

पावोनिया ब्रह्मज्ञान। स्वये उद्धरिला आपण॥
न करि तो चि दीनोद्धरणा हे भंड पण ज्ञात्या चे॥
स्वये तरोनि जना तारी। हे ज्ञाना ची अगाध थोरी॥
तें भ्यां दिधली तुझ्या करी। जन उद्धरी उद्धवा॥

(ए॰ भा॰ अ॰ २९। ८२४)

ज्ञानप्राप्तिसे व्यक्तिका विकास होता है। परंतु समाजका उद्धार करनेका उत्तरदायित्व वह टाल नहीं सकता। इसलिये ज्ञाताको समाज-रक्षणका कार्य करना आवश्यक है। इसमें लोगोंपर उसका उपकार नहीं, प्रत्युत वह उसका कर्तव्य है। इसमें निष्काम कर्मयोग एवं स्वधर्माचरणपर बल दिया गया है। वे कहते हैं—

मज करु दिली नाही सेवा। दाविले देवा देही च॥
जग व्यापक जनार्दन। सदा वसे परिपूर्ण॥
भिन्न-भिन्न नाही मनी। भरला से जनी जनी॥
एका जनार्दनी शरण। सर्वा ठायी व्यापक जाण॥

(एकनाथ गाथा १५०)

सभी प्राणियोंमें जनार्दनका वास सत्य है। इसलिये मानवमें भेद करना मूर्खता है। अज्ञानसे ही सर्वव्यापक जनार्दनका दर्शन नहीं होता। आत्मोद्धारकी आकांक्षा रखनेवाले व्यक्तिको ऐसा समझकर सर्वव्यापक जनार्दनकी शरणमें जाना चाहिये।

मराठीके आद्य कवि मुकुंदराज अपनी रचना विवेकसिंधुमें बताते हैं—

अशुद्ध पात्रि शुद्ध नव्हे ते दूध॥

जिस प्रकार अशुद्ध पात्रमें रखा हुआ दूध शुद्ध नहीं रहता, उसी प्रकार मलिन हृदयमें ज्ञानकी स्थिति है।

समर्थ रामदासजी उपदेश करते हुए कहते हैं—

श्रुती न्याय मीमांसकें तर्कशास्त्रें।
स्मृती वेद वेदांतवाक्यें विचित्रें।
स्वयें शेष मौनावला स्थीर पाहे॥
मना सर्व जाणी व सांडून राहे॥

(म॰ श्लो॰ १५८)

उपनिषद्, न्यायदर्शन, मीमांसादर्शन, तर्कशास्त्र, स्मृतिग्रन्थ एवं वेदान्त-वाक्योंमें जो परमात्माके स्वरूपका वर्णन है, वह भी अपूर्ण है। उसका वर्णन करनेमें सहस्रमुख शेष भी मौन धारण किये बैठे हैं। हे मानव! वहाँ तुम्हारा क्या महत्त्व है, इसलिये ज्ञानका अभिमान त्यागकर शान्त-चित्तसे परमात्मस्वरूपकी अनुभूति करते रहो।

संत तुकाराम महाराज अपनी अभंग-रचनामें इस प्रकार उपदेश देते हैं—

वेद अनंत बोलिला। अर्थ इतकाची साधिला॥
विठोबा सी शरण जावे। निज निष्ठे नाम ध्यावे॥

सकल शास्त्रा चा विचार। अंति इतकाची निर्धार॥
अठरा पुराणी सिद्धान्त। तुका म्हणे हाचि देव॥

वेदोंमें विपुल उपदेश किया गया है, परंतु उसमेंसे सीमित अर्थ हमने इस प्रकार लिया कि भगवान् विट्ठलकी शरणमें जाकर निष्ठापूर्वक उनका नाम रटे। सम्पूर्ण शास्त्रों एवं अठारह पुराणोंसे इतना ही उपदेश अपनाना कल्याणप्रद है। तुकाका अपने जीवनमें यही उद्देश्य है।

इसी प्रकार मराठी संतोंने समाजको भी उपदेश किया। जीव ईश्वर बन सकता है, परंतु उसके लिये साधनाकी आवश्यकता है। इस उपदेशपर लक्ष्य केन्द्रित करते हुए महाराष्ट्र संतोंकी शिक्षा धर्मशास्त्रपरक और ईश्वरतक पहुँचानेवाली है।

'धर्म' शब्दका दुरुपयोग

(महामहिम डॉ० श्रीसम्पूर्णानन्दजीके विचार)

मनुष्यको इस बातका बड़ा अभिमान है कि 'मैं भाषाका स्वामी हूँ। जब चाहता हूँ, तब बोलता हूँ, और अपने भावोंके अनुरूप शब्दोंका चयन करता हूँ।' बात बिलकुल ऐसी तो नहीं है। मनुष्यके चित्तमें जितने प्रकारके भाव उठ सकते हैं, उतने शब्द किसी भी भाषामें नहीं हैं। सर्वदा अपने मनोऽनुकूल शब्द नहीं मिल पाते। बहुधा ऐसे शब्दोंका व्यवहार करना पड़ता है, जो अपने विवक्षित अर्थके आस-पास होते हैं। शब्दकी व्युत्पत्ति कुछ भी रही हो, वह सबसे पहिले चाहे जिस अर्थमें प्रयुक्त किया गया हो, पर ज्यों-ज्यों उसका प्रचार बढ़ता है और वह पुराना होता जाता है, उसके साथ 'आस-पास'वाले अर्थोंका परिवार बढ़ता जाता है। बोलनेवालेको इनमेंसे कोई एक ही अभीष्ट होगा, पर शेष सब भी साथमें प्रतिध्वनित होते रहते हैं और यह श्रोताकी मनःस्थितिपर निर्भर करता है कि वह किस ध्वनितार्थको पकड़ेगा, यदि किसी कारणविशेषसे इन आंशिक अर्थोंमेंसे किसी कालविशेषमें किसी एकको प्रधानता मिल जाय तो यह भी सम्भव है कि वह शेषको दबा ले और उनको व्यक्त करनेके लिये कोई उपयुक्त शब्द ही न मिले। फिर तो यदि उनकी ओर लक्ष्य करना हो तो स्यात् लंबे वाक्यसे काम लेना होगा। परंतु वाक्यमें वह सजीवता नहीं होती जो प्रायः शब्दोंमें मिलती है।

मैं शब्दशास्त्रपर निबन्ध लिखने नहीं बैठा हूँ। ये सब विचार तो एक विशेष शब्दके सम्बन्धमें सोचते-सोचते उठ खड़े हुए। वह शब्द है—'धर्म'।

मैं नहीं जानता कि वेदमन्त्र पृथ्वीपर कबसे चले आ रहे हैं। परंतु यह निश्चित है कि 'धर्म' शब्द वेदोंमें भी आया है—'**तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्**', '**अतो धर्माणि धारयन्**' आदि। तबसे उस वाङ्मयमें, जिसको 'हिंदू' विशेषण दिया जा सकता है, यह शब्द चला आ रहा है। जैन और बौद्ध आचार्योंकी रचनाओं और उपदेशोंमें भी बराबर इसका व्यवहार होता रहा है। 'धर्म'की सर्वत्र प्रशंसा की गयी है। व्यासदेव कहते हैं—'अर्थ और काम धर्मपर ही आश्रित हैं।' मनुका आदेश है—'**न सीदन्नपि धर्मेण मनोऽधर्मे निवेशयेत्**' अर्थात् धर्मका पालन करते हुए कष्ट पानेपर भी मनमें अधर्मको स्थान न दे। यह शब्द इतना सुबोध समझा गया कि बहुधा विद्वानों और साधु-महात्माओंने इसकी परिभाषा करनेका प्रयत्न भी नहीं किया और परिभाषा यदि की भी गयी तो बहुत ही व्यापक, जैसे—'**यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः**'—'जिससे अभ्युदय और मोक्षकी सिद्धि हो वह धर्म है' या मनुके शब्दोंमें '**धारणाद्धर्म इत्याहुः**'—'जो विश्वको धारण करता है, वह धर्म है।' इन वाक्योंकी व्याख्या करनेमें पुस्तकालय-के-पुस्तकालय लिखे जा सकते हैं। संक्षेपमें कहीं-कहीं धर्मके जो लक्षण बताये गये हैं, उनमेंसे एकको उदाहरणके लिये लें—

अद्रोहश्चाप्यलोभश्च दमो भूतदया तपः।
ब्रह्मचर्यं तथा सत्यमनुक्रोशः क्षमा धृतिः॥

(मत्स्यपुराण)

—इस स्थलपर अद्रोह, अलोभ, दम, भूतदया, तप, ब्रह्मचर्य, सत्य, अनुक्रोश, क्षमा और धृतिको धर्मका मूल कहा गया है। लोकव्यवहारमें भी ऐसा ही देखा जाता है। सत्यवादी, दयालु, परोपकारी व्यक्तिको 'धर्मात्मा' और हिंसावृत्तिवाले तथा लोभीको 'अधर्मी' कहा करते हैं। विचारणीय बात यह है और इसी बातकी ओर मैं

विशेषरूपसे ध्यान दिलाना चाहता हूँ कि धर्मकी परिभाषामें ईश्वरोपासनाका नाम तक परिगणित नहीं है। हो भी नहीं सकता था; क्योंकि यदि ऐसा होता तो बौद्ध और जैन इस शब्दका व्यवहार ही नहीं करते। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि ईश्वरोपासना धर्मबाह्य या धर्मविरुद्ध है, पर वह धर्मका समानार्थक नहीं है। धर्मका अङ्ग भले ही हो, परंतु धर्मका सर्वस्व नहीं।

आजसे लगभग एक हजार वर्ष पहलेतक 'धर्म' शब्दका इस प्रकार व्यवहार करनेमें कोई कठिनाई नहीं हुई, परंतु जब यहाँ इस्लामके संदेशवाहक पहुँचे, तब अड़चन उत्पन्न हुई। वे लोग भी सत्य आदिका समर्थन करते थे, परंतु उनकी ओरसे जो उपदेश दिया जाता था, उसमें ईश्वरोपासनाका सबसे बड़ा स्थान था। कोई कितना भी अच्छा व्यक्ति क्यों न हो, परंतु यदि वह ईश्वरकी उपासनाको, और वह भी उस प्रकार जो इस्लामसे सम्मत है, प्रथम स्थान न दे तो वह प्रशंसाका पात्र नहीं हो सकता था। इसी दृष्टिकोणसे एक बार मौलाना मुहम्मद अलीने कहा था कि 'भले ही महात्माजीमें सब गुण हों, परंतु मैं किसी भी मुसलमानको उनसे ऊँचा समझूँगा।' अरबीमें धर्मका कोई यथार्थ पर्याय नहीं है। ज़ब देशमें ईसाई आये, तब भी यही परिस्थिति उत्पन्न हुई। उनके सामने भी एक विशेष प्रकारसे ईश्वरकी उपासना करना सबसे महत्त्वकी चीज थी। ईसाईके पास भी धर्मके अर्थमें कोई शब्द नहीं था और हिंदूके पास मज़हब या रेलीजनके लिये कोई शब्द नहीं है। कभी-कभी इस अर्थमें 'सम्प्रदाय' शब्दका व्यवहार कर लिया जाता है, परंतु यह शब्द यथार्थ नहीं है। शिया और सुन्नी—ये मुसलमानोंके दो सम्प्रदाय हैं। रोमन कैथलिक और प्रोटेस्टैंट—दो पृथक् ईसाई सम्प्रदाय हैं। परंतु शिया और सुन्नीका मज़हब एक है, रोमन कैथलिक और प्रोटेस्टैंटका रेलीजन एक है। इस्लाम-धर्मके अनुयायियोंका देशमें कई सौ वर्षोंतक राज्य रहा। शासकका पक्ष बलवान् होता ही है। फलतः मुसलमानोंने धर्मके लिये अरबी या फारसीमें कोई पर्याय न ढूँढ़ा, न बनाया, शासित हिंदुओंको ही मज़हबके लिये शब्द ढूँढ़ना पड़ा और दुर्भाग्यसे उन्होंने 'धर्म' शब्दको ही इस कामके लिये चुना। इस्लाम मज़हबके जोड़में 'हिंदू-धर्म' ऐसा व्यवहार होने लगा। वही व्यवहार आज 'क्रिश्चियन रेलीजन' के युगमें भी होता चला आ रहा है। जहाँतक साधु-संतों और विद्वानोंकी बात है, 'धर्म' शब्दने अपना पुराना अर्थ खोया नहीं है। साधारण जनता भी इस शब्दके व्यापक अर्थसे पराङ्मुख नहीं हुई है। फिर भी कुछ-न-कुछ संकीर्णता तो आ ही गयी है।

स्वतन्त्रताकी प्राप्तिके बाद इस शब्दपर अनर्थका पहाड़ टूट पड़ा। हमारे संविधानमें यह स्वीकार किया गया कि भारत सेक्युलर राज्य होगा और सेक्युलरके लिये दुर्भाग्यसे 'धर्मनिरपेक्ष' शब्द चुना गया। अच्छा होता यदि अरबीका मज़हब शब्द अपना लिया गया होता। हिंदी जीवित भाषा है, उसने विदेशोंसे बहुत-से शब्द लिये हैं। वह मज़हबको भी पचा सकती थी। सेक्युलरके लिये मज़हब-निरपेक्ष कहना ठीक होता। अरबी और संस्कृतसे बना यह गंगाजमुनी शब्द ही विवक्षित अर्थको ठीक-ठीक व्यक्त कर सकता था। धर्मनिरपेक्ष कहनेसे अंधेर हो गया। अभीतक तो 'धर्म' शब्द अपने पुराने अर्थके साथ-साथ मज़हबके नये अर्थको ढोता जा रहा था। अब सरकारी व्यवहारमें आनेमें उसका पुराना अर्थ पीछे पड़ गया। सरकारी कागजोंमें, नेताओंके भाषणोंमें, समाचारपत्रोंमें—सर्वत्र धर्मको मज़हबके संकीर्ण अर्थमें प्रयुक्त किया जा रहा है और उसके व्यापक अर्थके लिये कोई दूसरा शब्द दीख नहीं पड़ता। यह कोई नहीं पूछता कि जब हम यह कहते हैं कि हम धर्मके प्रति निरपेक्ष हैं तो क्या हम उस सत्य और अहिंसाकी ओर निरपेक्ष हैं, जिसकी रट महात्माजी यावज्जीवन लगाते गये? क्या हम अलोभ, जीवदया, क्षमा-जैसे सद्गुणोंको अब सक्रियरूपसे प्रश्रय नहीं देना चाहते? यदि इनसे विमुख नहीं होना है तो इन सबके लिये सामूहिक रूपसे कौन-सा शब्द है?

निरपेक्षता उसी चीजकी ओरसे होती है, जो अनुपयुक्त समझी जाती है। धर्मनिरपेक्षताका नाम लेते-लेते चित्तपर यह भाव बैठता जाता है कि धर्म बुरी चीज है। नयी पीढ़ी यही शिक्षा ग्रहण कर रही है। मज़हबसे तो यह यों ही बहुत दूर है, 'धर्म' शब्द भी छूटता जाता है और धर्मका नाम लेना भी 'दकियानूसी खयाल'—प्रतिगामिताका प्रमाण माना जाता है। भारतीय संस्कृति ऐसे पर्यावरणमें पली थी, जिसको धार्मिकके सिवा किसी और शब्दसे अभिव्यक्त नहीं कर सकते। धर्मकी ओरसे जो मनोभाव उत्पन्न किया जा रहा है, वह हमको उस संस्कृतिकी ओरसे भी हटाता

जा रहा है। मुझे उस समयकी एक घटना याद है, जब मैं उत्तरप्रदेशमें शिक्षामन्त्री था और मौलाना आजाद केन्द्रीय शिक्षामन्त्री थे। एक सज्जनने.....वे आज भी प्रतिष्ठाके पात्र हैं, अतः उनका नाम लेना उचित न होगा.....मौलाना साहबसे यह शिकायत की कि मैं स्कूलोंमें ऐसी पाठ्य-पुस्तकको प्रोत्साहन दे रहा हूँ, जिनमें मज़हबी बातें भरी हैं। उदाहरणके लिये यह लिखा गया था कि एक पुस्तकमें हरिश्चन्द्रकी कथा लिखी गयी है। मेरी समझमें हरिश्चन्द्रकी कथाको यदि इस प्रकार लिखा जाय कि उससे धार्मिक पुट दूर कर दिया जाय तो सारी कथा निर्जीव हो जायगी। मैंने मौलाना साहबको जो उत्तर दिया, उससे वह बात वहीं-की-वहीं समाप्त हो गयी, परंतु एक हिंदूनामधारी विद्वान्ने ऐसी आपत्ति उठायी थी, यही विचारणीय बात है।

इस बातपर हमको गम्भीरतासे विचार करना चाहिये। मज़हब अच्छी चीज हो या बुरी, परंतु राज्यके लिये मज़हबके प्रति निरपेक्षताकी नीति कल्याणकारी है, किंतु इस प्रसंगमें 'धर्म' शब्दका व्यवहार करना भयानक है।

हम 'धर्म' शब्दके प्राचीन अर्थसे कितनी दूर चले गये हैं! कुछ दिनोंके बाद प्राचीन साहित्यका अर्थ समझना कठिन हो जायगा। उसमें पदे-पदे 'धर्म'-शब्द आया है, ऐसे प्रसंगोंमें इसका व्यवहार हुआ है, जहाँ पूजा-पाठकी कोई चर्चा नहीं है, केवल नैतिकता, नैतिक गुणोंकी प्रशंसा है। ऐसी बातें तो सार्वभौम होती हैं। परंतु इनका समर्थन करना भी बुरा हो गया, यह देखकर लोगोंको आश्चर्य होगा।

भारतको मज़हब और धर्मके सम्बन्धमें वही नीति अपनानी चाहिये, जो इस देशमें पहले भी मान्य थी। धर्मका आदर होना चाहिये। 'धर्म'-शब्दको सम्मान दिया जाना चाहिये। मज़हबको भी न तो बहिष्कारका विषय समझना चाहिये, न हँसीका। जीवनमें उसका भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। परंतु किसी मज़हब-विशेषके अनुयायियोंको राज्यकी दृष्टिमें ऊँचा या नीचा कोई स्थान-विशेष नहीं मिलना चाहिये। न तो किसी मज़हबवालेको शिक्षा या व्यापार या राजसेवामें कोई सुविधा दी जानी चाहिये न असुविधा। राज्यकी दृष्टिसे इससे अधिक निरपेक्षताकी आवश्यकता नहीं है और इसके लिये 'धर्म'-जैसे प्राचीन शब्दके अर्थको भ्रष्ट करनेकी आवश्यकता भी नहीं है।

अमृत-बिन्दु

मनुष्य ज्यों-ज्यों अपने शरीरकी चिन्ता छोड़ता है, त्यों-त्यों उसके शरीरकी चिन्ता संसार करने लगता है।

× × ×

घरवालोंकी सेवा करनेसे मोह होता ही नहीं। मोह होता है कुछ-न-कुछ लेनेकी इच्छासे।

× × ×

भगवान्‌की तरफ खिंचावका नाम भक्ति है। भक्ति कभी पूर्ण नहीं होती, प्रत्युत उत्तरोत्तर बढ़ती ही रहती है।

× × ×

भगवान्‌के प्रेमके लिये उनमें अपनापनकी जरूरत है और उनके दर्शनके लिये उत्कट अभिलाषाकी जरूरत है।

× × ×

जब हम सबकी बात नहीं मानते, तो फिर दूसरा कोई हमारी बात न माने तो हमें नाराज नहीं होना चाहिये।

× × ×

जो हमसे कुछ भी चाहते हैं, वे हमारे गुरु कैसे हो सकते हैं?

× × ×

धनके रहते हुए तो मनुष्य संत बन सकता है, पर धनकी लालसा रहते हुए मनुष्य संत नहीं बन सकता।

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)
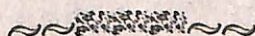
पढ़ो, समझो और करो

(१)

माता-पिता एवं बड़ोंके चरणस्पर्शका प्रभाव

बात ३ दिसम्बर १९८४ की है। मेरी छोटी बहनकी शादीकी तिथि निश्चित हो चुकी थी। मेरी सामान्य-सी नौकरी थी, अतः रुपयोंकी जटिल समस्या थी। ऐसेमें मैं भला बहनके विवाहका बोझ कैसे उठाता, चिन्ताके मारे मेरा बुरा हाल था। बिना रुपयोंके शादी कैसे होगी यह सोच-सोचकर मैं तथा मेरे माता-पिता अत्यन्त चिन्तित थे। ३ दिसम्बरकी रात्रिको मैंने शादीके खर्चका एक कच्चा बजट बनाया तो मालूम हुआ कि हमलोगोंद्वारा किसी तरह पेट काटकर जमा किये गये रुपयोंसे बजटकी राशि बहुत अधिक है। इससे भारी घबराहट तथा बेचैनी महसूस हुई। किसीके आगे हाथ पसारनेमें भी कठिनता थी, फिर मुझे इतनी बड़ी रकम देता भी कौन?

उस दिन रात्रिके १२ बजे होंगे, मेरी नींद तो नदारद हो ही चुकी थी, मैं चिन्तामें निमग्न था और सोच रहा था कि परमात्माके सिवाय और कोई आश्रय नहीं है। भगवान् भले ही मेरी इस नैयाको पार लगायें। इस प्रकार सोचते-सोचते किंकर्तव्यविमूढावस्थामें ही मेरी आँखें कब लग गयीं, मैं जान नहीं पाया, सहसा मैंने स्वप्नमें देखा कि जब मैं प्रभुके सामने झोली फैलाकर रो रहा था, तभी एक चमत्कारिक घटना घटी। मेरे कानोंमें आवाज आयी कि 'अरे! लक्ष्मी तो तुम्हारे पासमें ही है, तुम कहाँ भटक रहे हो?'

मैंने पूछा—'प्रभो! मेरे पास तो लक्ष्मी है नहीं।' पुनः आवाज आयी 'देखो! चिन्ता न करो, तुम्हारे माता-पिता ही अखण्ड ऐश्वर्यके निधान हैं, उन्हींको प्रणाम किया करो, उनकी सेवा करो, तुम्हारे सभी काम सफल होंगे।' इतनी बात हो ही रही थी कि अचानक मैं चौंककर जाग बैठा। स्वप्नकी बातें मुझे याद थीं।

अगले दिनसे ही प्रातःकाल उठकर मैंने माता-पिता एवं बड़ोंको प्रणाम करनेका नियम ले लिया और उन सभीका आशीर्वाद ही मेरे लिये अमोघ फलदायी हो गया। उसी आशीर्वादके प्रभावसे नियत तिथिपर मेरी बहनकी शादी आनन्दसे सम्पन्न हो गयी। मैं पैसेके लिये बहुत चिन्तित था, किंतु माता-पिताके आशीर्वादसे बहनकी शादीके पहले शकुनमें ही इतने अधिक पैसे आ गये कि विवाहका सारा खर्च उसीसे चल गया और दूसरे दिन जब मैंने खर्चका हिसाब लगाया तो मेरे पास ५०० रुपये शेष बच भी गये थे। प्रणाम करनेका यह फल देखकर तो मैं दंग ही रह गया। पहले तो भगवान्‌ने मुझे ऐसी सद्‌बुद्धि प्रदान की कि माता-पिता तथा बड़ोंको प्रणाम करनेका महत्त्व बता दिया तथा फिर मुझसे विश्वासपूर्वक उस आचरणमें श्रद्धा भी करा दी। यह भगवान्‌की असीम कृपा नहीं तो और क्या है! ऐसे ही सब लोग यदि अपने माता-पिताकी तथा अपनेसे बड़े लोगोंके प्रति आदर-बुद्धि रखकर उनकी सेवा-पूजा करें तो निश्चित ही सबका परम कल्याण हो सकता है।

—ओमप्रकाश डाटा

(२)

षोडश नाम-महामन्त्रका प्रभाव

आजसे कुछ वर्षों पूर्वकी बात है, मैं एक विद्यालयमें प्रधानाध्यापकपदपर कार्यरत था। जिसके संचालन-हेतु धनकी आवश्यकता थी। दैवयोग ही कहिये उसकी पूर्तिके लिये मैं असत्-मार्गका भी आश्रय ले बैठा। फलतः पैसेके लालचमें गलत कार्य करनेमें जरा भी संकोच मुझे नहीं होता था, एक सत्यको छिपानेके लिये सौ असत्य बोलना पड़ता था। यद्यपि धन संग्रह करनेमें मुझे काफी परिश्रम करना पड़ता था, तथापि मिथ्याचारका सहारा लेकर पैदा किये हुए धनके उपयोगसे मेरी बुद्धि अज्ञानाच्छादित रहने लगी और धीरे-धीरे दुःसंगके कारण धूम्रपान तथा मद्यपानकी भी प्रवृत्ति हो गयी। फिर मैंने विद्यालय छोड़ दिया। पुनः कुछ दिन बाद उसी विद्यालयमें एक वर्षतक काम किया। उसी अन्तरालमें संयोगवश एक सज्जनसे मुलाकात हुई जो 'कल्याण'-पत्रिका मँगाया करते थे। वे मेरे साथ अध्यापन करते थे, अतः 'कल्याण'-पत्रिका पढ़ने-हेतु मैं भी ले लिया करता था और उनके साथ कुछ भगवच्चर्चा भी होने लगी। यद्यपि 'कल्याण'-पत्रिका पहले भी कभी-कभी पढ़नेको मिलती थी, किंतु तबतक उसमें कोई रुचि न थी। परंतु अब तो कुछ भगवान्‌की कृपा और सत्संगका ऐसा प्रभाव हुआ कि 'कल्याण' पढ़े बिना चैन ही न पड़ता था। 'कल्याण'का एक अङ्क मैंने देखा जिसमें षोडश नाम-महामन्त्र *'हरे राम हरे राम०'* के जपके लिये निवेदन किया गया था, उसे पढ़कर मैंने इस षोडश नाम-महामन्त्रके जपका संकल्प लिया और मैं घरसे विद्यालय जाते समय साइकिल चलाते-चलाते १०८ बार जप करने लगा। धीरे-

धीरे इसमें मेरी रुचि और श्रद्धा बढ़ने लगी।

भगवत्प्रेरणासे अगरबत्ती आदि लगाकर अब आसनपर बैठकर पूजा करने लगा तथा षोडश नाम-महामन्त्रका जप भी करने लगा और अपने अंदर उत्पन्न सभी दोषों-दुर्गुणोंको दूर करनेका प्रयास करने लगा। मुझे यह स्पष्ट अनुभूति होने लगी कि महामन्त्रके जपसे मेरे दुर्गुण और दोष समाप्त हो रहे हैं। यह षोडश नाम-महामन्त्र-जपका प्रत्यक्ष लाभ और प्रभाव है कि एक गाड़ी जो पटरीसे उतर चुकी थी, उसे भगवन्नाम-जपने उठाकर पुनः पटरीपर रखकर सत्-मार्गके लिये प्रेरित कर दिया।

धन्य है षोडश नाम-महामन्त्र!

—श्रीराम

(३)

को नहिं जानत है जग में कपि संकटमोचन नाम तिहारो

सन् १९७९-८० की बात है। मेरे पिताजी प्राइमरी स्कूलमें अध्यापक थे। एक दिन रविवारको वे घरके पास ही बगीचेमें काम कर रहे थे कि अचानक उनके पेटमें भयंकर दर्द हुआ। दर्दके मारे उन्होंने जोरसे चीख मारी और वे वहीं बेहोश हो गिर पड़े।

पंद्रह-बीस मिनट बाद जब उन्हें होश आया तो पेटका दर्द तो कुछ ठीक हो गया था, पर उनकी जबान (आवाज) बंद हो गयी। यह देखकर सब हक्का-बक्का रह गये। पिताजी लिखकर और इशारेसे अपनी बात समझाने लगे। पिताजीकी यह दशा देख सारा परिवार अजीब उलझनमें फँस गया। समझमें नहीं आ रहा था कि करें तो क्या करें। जिसने भी यह खबर सुनी, वही हमारे घरकी ओर आने लगा। देर राततक आने-जानेवालोंका ताँता लगा रहा। हम सभी भगवान्से प्रार्थना करने लगे कि हे भगवान्, हमारे पिताजीकी जबान वापस लौटा दो। अन्तमें हमारे फूफाजीने माताजीसे कहा कि रुपयोंका इंतजाम करना चाहिये, हो सकता है इनका ऑपरेशन करवाना पड़े। ऑपरेशनका नाम सुनकर हमारे पैरोंकी जमीन खिसक गयी। मेरी माताजी जो शुरूसे ही धार्मिक विचारकी हैं, उन्होंने जान-बूझकर फूफाजीसे कहा कि हाँ-हाँ रुपयोंका इंतजाम है, जबकि उनके पास उस समय एक सौसे ज्यादा रुपये नहीं थे।

जब सभी लोग चले गये, तब मेरी माताजीने हमलोगोंसे कहा कि तुमलोग चिन्ता न करो, सो जाओ और मैं श्रीहनुमान्‌जीकी आराधना करूँगी। इसके बाद मेरी माताजी एक कटोरीमें गङ्गाजल लेकर पिताजीके पास बैठ गयीं और हनुमान्‌जीके संकटमोचनका पाठ करने लगीं। वे हर पाठके बाद एक चम्मच गङ्गा-जल पिताजीको पिलाती रहीं। ग्यारह पाठ करनेके बाद जब बारहवाँ पाठ कर रही थीं तो उनके कानोंमें राम-रामके शब्द सुनायी दिये, पर जब उन्होंने ध्यानपूर्वक सुना तो पिताजी धीरे-धीरे राम-राम बोल रहे थे। इस प्रकार बारहवाँ पाठ पूरा होनेतक पिताजी जोर-जोरसे राम-राम बोलने लगे। पिताजीकी जोर-जोरसे बोली सुनकर हम सब भी उठ गये और हम सभीकी आँखोंसे खुशीके आँसू टपकने लगे। हम सभीने बार-बार श्रीहनुमान्‌जीको प्रणाम किया, जिनकी कृपासे पिताजीकी जबान वापस आयी, सच है—***'को नहिं जानत है जग में कपि संकटमोचन नाम तिहारो।'***

—अम्बिका गुप्ता

(४)

गोमूत्र एक चमत्कारिक औषधि

यह घटना आजसे लगभग २० वर्ष पूर्वकी है, जब मैं छतरपुर (म० प्र०)-में नौकरीमें था। मेरा छोटा भाई, जिसकी आयु उस समय लगभग ३८ वर्षकी थी, शिकोहाबादमें एडवोकेट था। वह अम्लपित्त (एसीडिटी) रोगसे पीड़ित था। जो भी भोजन करता, खट्टा पानी बन जाता था, जो पेटमें बुरी तरहसे जलन पैदा करता था, पेटमें पीड़ा भी बनी रहती थी। यहाँतक कि खट्टा पानी मुँहमें भी आ जाता था। कभी-कभी तो इस पीड़ा और जलनको कम करनेके लिये दिनमें दो-तीन बार उल्टियाँ भी करनी पड़ती थीं। खाना वह भरपेट खा नहीं सकता था, शरीर कृश हो गया था। कई उपचार करानेपर भी उसकी बीमारी ठीक नहीं हो पा रही थी। अब वह अपने जीवनसे निराश हो गया था। परिवारके सभी लोग उसके स्वास्थ्यको लेकर काफी चिन्तित थे।

इसी बीच दैवयोगसे मेरी मुलाकात एक महात्माजीसे हुई जो लोगोंको उनके रोगोंका सस्ता, सुन्दर और टिकाऊ देशी उपचार बता दिया करते थे। मैंने भी एक दिन उनसे अपने छोटे भाईकी बीमारी एवं विभिन्न प्रकारके उपचारोंके बारेमें सविस्तार बताया। तो उन्होंने कहा कि रोग भी जड़से चला जायगा और पैसा भी एक खर्च नहीं होगा—लेकिन दवाका प्रयोग तुम कर सकोगे कि नहीं, यह संदेह है, क्योंकि बिना पैसेकी दवाके प्रति न तो आज श्रद्धा है और न विश्वास। डॉक्टरकी लम्बी-चौड़ी फीस और महँगी-से-महँगी दवा और इन्जेक्शनको ही लोग आज इलाज समझते हैं। इसपर मैंने आश्वासन दिया और कहा—'महाराज! आप जो बतायेंगे वह अवश्य करेंगे।' इसपर उन्होंने बताया कि 'प्रातःकाल उठते ही गायका जो प्रथम मूत्र हो, उसे एक गिलास या कटोरेमें

एकत्र कर लो और एक-दो घूँटसे प्रारम्भकर धीरे-धीरे पाँच-छ: घूँटतक बढ़ा लो। १०-१५ दिनके प्रयोगसे ही लाभ प्रतीत होने लगेगा। बस श्रद्धा-विश्वाससे यह प्रयोग करते जाओ, बीमारी माह-दो-माहके प्रयोगसे जड़से कट जायगी। हाँ, यह ध्यान रखना कि गोमूत्र-सेवनके प्रारम्भिक दिनोंमें शौचके लिये २-३ बारतक जाना पड़ सकता है तो घबरानेकी जरूरत नहीं है, न कोई दूसरी दवा लेनेकी। २-४ दिनमें सब सामान्य हो जायगा।

जैसा महात्माजीने बताया था वह सब मैंने पत्रद्वारा लिखकर अपने छोटे भाईको सूचित कर दिया, परंतु एक तो शहरमें पास-पड़ोसमें कोई गाय पालनेवाला नहीं था, दूसरे प्रतिदिन किसीके यहाँ जाकर गायका पहला—प्रथम मूत्र भी प्राप्त करना कठिन था, इसलिये मेरे भाईने सबसे पहले एक गाय खरीद ली और बड़े चावसे उसकी सेवा-शुश्रूषा करते हुए प्रतिदिन बतायी गयी विधिके अनुसार गोमूत्रका सेवन करने लगा।

आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि लगभग दो माहके अनवरत प्रयोगसे ही उसका तीन-चार साल पुराना रोग जड़से चला गया और उसका स्वास्थ्य बीमारीके पूर्वकी अवस्थासे भी कहीं अधिक सुन्दर हो गया। साथ ही आज २० वर्ष हो गये हैं, उसे कभी यह रोग नहीं हुआ।

[प्रेषक—बी०के० श्रीवास्तव]

(५)

विश्वासकी जीत

घटना मई १९९१ की है। हमारे यहाँ भुजियाका कारोबार होता था। घरके पिछवाड़े खाली जगहमें भुजियाकी भट्ठी लगायी हुई थी। गर्मीका मौसम था, घटनावाले दिन भुजिया बनानेकी बात थी, इस कारण मेरे पिताजी सूर्योदयसे पूर्व ही जाग गये थे। नित्यकर्मसे छुटकारा पाकर और भगवान्‌की पूजा-अर्चना करके वे कारखानेमें चले गये तथा भुजिया बनानेवाले कारीगरकी प्रतीक्षा करने लगे। जब समय अधिक हो गया और कारीगर नहीं आया तो पिताजीने सोचा कि जबतक भुजिया बनानेवाला आ नहीं जाता, तबतक मैं क्यों न तेल गर्म कर दूँ—ऐसा सोचकर उन्होंने भट्ठीको चालू कर दिया और कड़ाहीमें तेल उड़ेल दिया। तेल एकदम गरम हो चुका था, अत: पिताजीने तेलको पीपोंमें डालना उचित समझा। सोच-विचारकर उन्होंने चालू भट्ठीमें ही कड़ाहीमेंसे गर्म तेल निकालकर पीपोंमें डालना शुरू किया। अन्तमें जब कड़ाहीमें केवल एक डोलकी अर्थात् करीब-करीब एक-डेढ़ किलोग्राम तेल रह गया, तब अकस्मात् पिताजीका ध्यान दूसरी तरफ चला गया। इतनेमें ही कड़ाहीमें पड़ा थोड़ा-सा तेल एकदम गर्म हो उठा और धीरे-धीरे कड़ाहीमेंसे आगकी लपटें निकलने लगीं—यह सब देखकर मेरे पिताजी चिन्तित हो उठे और दौड़ते हुए घरके अंदर आये तथा शीघ्रतामें सारी बातें मुझे बतायीं, सुनकर मैं भी चिन्तित हो उठा। तत्काल ही मैं भी अपने पिताजीके साथ कारखानेमें गया। वहाँ जाकर मैंने देखा कि आगकी लपटोंने भयानक रूप धारण कर लिया है, मेरे मनमें विचार आया कि अगर इन्हें अभी ही न रोका गया तो बहुत बड़ा हादसा घट सकता है—यह सोचकर मैं जल्दी ही वापिस घरके अंदर आया और पानीसे भरी एक बड़ी मटकी उठाकर वापिस पिछवाड़े गया, तबतक पिताजीने हिम्मत करके भट्ठीके मेन-स्विचको तो बंद कर दिया था, परंतु आगकी लपटोंने तो भयावह स्थिति धारण कर ली थी। मैंने अपने साथ लाये पानीके मटकेको पूरे जोरसे कड़ाहीपर उड़ेल दिया—कुछ समयके लिये तो आग एकदम बुझ गयी, परंतु जैसे ही कड़ाहीपर पानी पड़ा, गर्म तेल छिटककर मेरे पिताजीपर आ गया। गर्म तेलके छींटोंसे पिताजी बुरी तरह पीड़ित हो गये और बेहोश भी हो गये। स्थिति पहलेसे भी भयावह हो गयी, क्योंकि कारखानेके पूरे फर्शपर गर्म तेल बिखरा हुआ था और दूसरी तरफ मेरे पिताजीकी चिन्ताजनक हालत। संकटकी इस घड़ीमें मैं तो किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया। मैंने मन-ही-मन संकटमोचन हनुमान्‌जीको याद किया; क्योंकि उस समय विपत्ति हरनेवाले हनुमान्‌जी ही मेरे सहायक थे और फिर हिम्मत जुटाकर मैं अपने पिताजीको वैसी घायल-अवस्थामें कारखानेसे बाहर निकाल ले आया। उस समय घरमें मेरी बड़ी बहिन मौजूद थी। पर हमें समझमें नहीं आ रहा था कि अब क्या करें। फिर भी मनमें थोड़ी-सी आशा थी कि बजरंगबली हमें अवश्य इस संकटसे उबारेंगे। यह विश्वास भी था कि सच्चे मनसे की जानेवाली प्रार्थना भगवान् जल्दी सुन लेते हैं। अन्तमें मेरे विश्वासकी ही जीत उस समय हुई। कुछ ही समय पश्चात् पिताजीको धीरे-धीरे होश आ गया। मेरी आँखोंमें, मन-ही-मन भगवान्‌की यह विचित्र लीला देख मारे खुशीके आँसू बहने लगे। मेरे पिताजी करीब डेढ़-दो-मासमें पूर्ण स्वस्थ हो गये, उनके सारे घाव भी ठीक हो गये। यह सब भगवान्‌की ही कृपा है।

हे संकटमोचन! आपकी जय हो!

—विमलकुमार सारड़ा

मनन करने योग्य

प्रत्येक स्थितिमें धर्मका ही आचरण

तस्माद्धर्मः सदा कार्यो मानुष्यं प्राप्य दुर्लभम्।

(वृ॰ गौतमस्मृति २। ३३)

शाकल्य नामके एक ब्राह्मण थे। वे गौतमीके तटपर बड़ी निष्ठासे तप कर रहे थे। सभी प्राणी उन्हें आदरकी दृष्टिसे देखते थे, किंतु पासके पर्वतपर एक परशु नामका राक्षस रहता था। जो यज्ञसे बड़ा द्वेष रखता था और ब्राह्मणोंको मारकर खा जाता था। उसमें यह शक्ति थी कि चाहे जैसा भी रूप धर ले। परशु प्रतिदिन शाकल्यके पास उनको मारनेके लिये आता था, किंतु उनके तेजसे प्रतिहत होकर उन्हें मार नहीं पाता था।

जब परशुने देखा कि मैं किसी भी तरह शाकल्यको मार न सकूँगा तो उनको मारनेके लिये उसने एक षड्यन्त्र रचा। एक दिन वह राक्षस जर्जर बूढ़ा ब्राह्मण बनकर और अपने साथ एक कन्याको लेकर शाकल्यके पास पहुँचा। अतिथि-सत्कार करनेका वह समय था। वृद्ध ब्राह्मणने कहा—'मैं और यह कन्या दोनों भूखसे परेशान हैं। हमें आप भोजन दें।'

शाकल्यने देखा कि ठीक अवसरपर दो ब्राह्मण अतिथि-रूपमें आ गये हैं, इसलिये इन्हें भोजन कराना मेरा कर्तव्य है, अत: उन्होंने उन्हें भोजन कराना सहर्ष स्वीकार कर लिया। दोनोंको आसनपर बैठाकर उनकी पूजा की और श्रद्धाके साथ उनके आगे भोजन परस दिया। ब्राह्मण-रूपधारी परशुने आचमनका जल हाथमें लेकर कहा—'मैं अभ्यागत हूँ आपसे कुछ और चाहता हूँ, यदि वह चाह आप पूरी कर दें तो मैं भोजन करूँगा। अन्यथा भोजन नहीं करूँगा।' महात्मा शाकल्यने कहा—'आपकी चाह मैं अवश्य पूरी करूँगा, आप भोजन ग्रहण करें।' अब परशु खुलकर सामने आ गया। उसने कहा—'मुने! न तो मैं वृद्ध ब्राह्मण हूँ और न मेरे पास कोई कन्या है। मैं परशु नामका राक्षस हूँ। बहुत दिनोंसे मैं तुझे खाना चाह रहा था लेकिन खा नहीं पा रहा था। अब तुम मुझे अपने-आपको दे दो; क्योंकि तुम प्रतिज्ञा कर चुके हो।' शाकल्यने शान्तिसे कहा—'ठीक है परशु! मैं प्रतिज्ञा कर चुका हूँ। अत: तुम मुझे खाओ। धर्मकी रक्षाके लिये प्राण देना तो बहुत ही उत्तम है।' इतना सुनते ही अपना विकराल रूप धारणकर राक्षस शाकल्यको खानेके लिये उनके समीप पहुँचा। किंतु यह क्या, राक्षसको ब्राह्मणके रूपमें साक्षात् धर्म-देवता शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारी विष्णुके रूपमें दिखायी दिये।

उस रूपको देखते ही राक्षसकी घिग्घी बँध गयी, वह रोकर अपनी सद्गति चाहने लगा।

धार्मिक तो उदार होते ही हैं। वे सबका हित ही करते हैं। अपकारीके प्रति उपकार करना ऊँचा धर्म माना जाता है। ब्राह्मणको उस राक्षसपर दया आ गयी, उन्होंने उसे भगवान्‌की स्तुति करनेका उपदेश दिया। उस प्रार्थनासे राक्षसका उद्धार हो गया।

इस प्रकार संकटमें भी अपने धर्मका परित्याग न करनेके कारण उसी धर्मरूप देवताने ब्राह्मणकी रक्षा की। अत: सदा धर्मका ही आचरण करना चाहिये। (ब्रह्मपुराण)
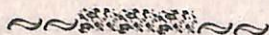
गीता-सार

अध्याय

१-सांसारिक मोहके कारण ही मनुष्य मैं क्या करूँ और क्या नहीं करूँ—इस दुविधामें फँसकर कर्तव्यच्युत हो जाता है। अत: मोह या सुखासक्तिके वशीभूत नहीं होना चाहिये।

२-शरीर नाशवान् है और उसे जाननेवाला शरीरी अविनाशी है—इस विवेकको महत्त्व देना और अपने कर्तव्यका पालन करना—इन दोनोंमेंसे किसी भी एक उपायको काममें लानेसे चिन्ता-शोक मिट जाते हैं।

३-निष्कामभावपूर्वक केवल दूसरोंके हितके लिये अपने कर्तव्यका तत्परतासे पालन करनेमात्रसे कल्याण हो जाता है।

४-कर्मबन्धनसे छूटनेके दो उपाय हैं—कर्मोंके तत्त्वको जानकर नि:स्वार्थभावसे कर्म करना और तत्त्वज्ञानका अनुभव करना।

५-मनुष्यको अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियोंके आनेपर सुखी-दु:खी नहीं होना चाहिये; क्योंकि इनसे सुखी-दु:खी होनेवाला मनुष्य संसारसे ऊँचा उठकर परम आनन्दका अनुभव नहीं कर सकता।

६-किसी भी साधनसे अन्त:करणमें समता आनी चाहिये। समता आये बिना मनुष्य सर्वथा निर्विकल्प नहीं हो सकता।

७-'सब कुछ भगवान् ही हैं'—ऐसा स्वीकार कर लेना सर्वश्रेष्ठ साधन है।

८-अन्तकालीन चिन्तनके अनुसार ही जीवकी गति होती है। अत: मनुष्यको हरदम भगवान्का स्मरण करते हुए अपने कर्तव्यका पालन करना चाहिये। जिससे अन्तकालमें भगवान्की स्मृति बनी रहे।

९-सभी मनुष्य भगवत्प्राप्तिके अधिकारी हैं, चाहे वे किसी भी वर्ण, आश्रम, सम्प्रदाय, देश, वेश आदिके क्यों न हों।

अध्याय

१०-संसारमें जहाँ भी विलक्षणता, विशेषता, सुन्दरता, महत्ता, विद्वत्ता, बलवत्ता आदि दीखे, उसको भगवान्का ही मानकर भगवान्का ही चिन्तन करना चाहिये।

११-इस जगत्को भगवान्का ही स्वरूप मानकर प्रत्येक मनुष्य भगवान्के विराट् रूपका दर्शन कर सकता है।

१२-जो भक्त शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिसहित अपने-आपको भगवान्के अर्पण कर देता है, वह भगवान्को प्रि[illegible] होता है।

१३-संसारमें एक परमात्मतत्त्व ही जानने योग्य है। उस[illegible] जाननेपर अमरताकी प्राप्ति हो जाती है।

१४-संसार-बन्धनसे छूटनेके लिये सत्त्व, रज और तम—[illegible] तीनों गुणोंसे अतीत होना जरूरी है। अनन्यभ[illegible] मनुष्य इन तीनों गुणोंसे अतीत हो जाता है।

१५-'इस संसारका मूल आधार और अत्यन्त श्रेष्ठ प[illegible] एक परमात्मा ही है'—ऐसा मानकर अन[illegible] उनका भजन करना चाहिये।

१६-दुर्गुण-दुराचारोंसे ही मनुष्य चौरासी लाख[illegible] एवं नरकोंमें जाता है और दु:ख पाता है[illegible] जन्म-मरणके चक्रसे छूटनेके लिये दुर्गुण-दुराचारोंका त्याग करना आवश्यक है।

१७-मनुष्य श्रद्धापूर्वक जो भी शुभ कार्य करे, उसको भगवान्का स्मरण करके, उनके नामका उच्चारण करके ही आरम्भ करना चाहिये।

१८-सब ग्रन्थोंका सार वेद हैं, वेदोंका सार उपनिषद् हैं, उपनिषदोंका सार गीता है और गीताका सार भगवान्की शरणागति है। जो अनन्यभावसे भगवान्की शरण हो जाता है, उसे भगवान् सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर देते हैं।

('साधक-संजीवनी'के अनुसार)

दारिद्र्यदुःखदहनाय नमः शिवाय

विश्वेश्वराय नरकार्णवतारणाय कर्णामृताय शशिशेखरधारणाय।
कर्पूरकान्तिधवलाय जटाधराय दारिद्र्यदुःखदहनाय नमः शिवाय॥
गौरीप्रियाय रजनीशकलाधराय कालान्तकाय भुजगाधिपकङ्कणाय।
गङ्गाधराय गजराजविमर्दनाय दारिद्र्यदुःखदहनाय नमः शिवाय॥
भक्तिप्रियाय भवरोगभयापहाय उग्राय दुर्गभवसागरतारणाय।
ज्योतिर्मयाय गुणनामसुनृत्यकाय दारिद्र्यदुःखदहनाय नमः शिवाय॥
चर्माम्बराय शवभस्मविलेपनाय भालेक्षणाय मणिकुण्डलमण्डिताय।
मञ्जीरपादयुगलाय जटाधराय दारिद्र्यदुःखदहनाय नमः शिवाय॥
पञ्चाननाय फणिराजविभूषणाय हेमांशुकाय भुवनत्रयमण्डिताय।
आनन्तभूमिवरदाय तमोमयाय दारिद्र्यदुःखदहनाय नमः शिवाय॥
भानुप्रियाय भवसागरतारणाय कालान्तकाय कमलासनपूजिताय।
नेत्रत्रयाय शुभलक्षणलक्षिताय दारिद्र्यदुःखदहनाय नमः शिवाय॥
रामप्रियाय रघुनाथवरप्रदाय नागप्रियाय नरकार्णवतारणाय।
पुण्येषु पुण्यभरिताय सुरार्चिताय दारिद्र्यदुःखदहनाय नमः शिवाय॥
मुक्तेश्वराय फलदाय गणेश्वराय गीतप्रियाय वृषभेश्वरवाहनाय।
मातङ्गचर्मवसनाय महेश्वराय दारिद्र्यदुःखदहनाय नमः शिवाय॥
वसिष्ठेन कृतं स्तोत्रं सर्वरोगनिवारणम्। सर्वसम्पत्करं शीघ्रं पुत्रपौत्रादिवर्धनम्।
त्रिसंध्यं यः पठेन्नित्यं स हि स्वर्गमवाप्नुयात्॥

जो सम्पूर्ण सचराचर विश्वके स्वामी हैं तथा नरक-समुद्रसे तारनेवाले हैं, जिनका नाम और यश-श्रवण कानोंके लिये अमृतके समान है, जिनके ललाटपर चन्द्रमा सुशोभित हैं, कर्पूरके समान जिनकी धवल कान्ति है, जिन्होंने जटा धारण कर रखा है, उन दुःख एवं दारिद्र्यके दहन करनेवाले भगवान् शिवको नमस्कार है। जिनकी बायीं ओर प्रिय भगवती पार्वती स्थित हैं, जो चन्द्रकला धारण किये हैं तथा मृत्युका नाश करनेवाले हैं, जिनके हाथमें शेषनाग और वासुकि नाग कंकणके समान सुशोभित हैं, जिन्होंने मस्तकपर गङ्गाजीको धारण कर रखा है, जिन्होंने अन्धकासुरको मारकर उसके गजाजिन (हाथीकी खाल)-को वस्त्रके रूपमें लपेट रखा है, उन दुःख एवं दारिद्र्यके दहन करनेवाले भगवान् शिवको नमस्कार है। जिन्हें अपने भक्तोंकी भक्ति बहुत प्रिय है, जो संसारके रोग तथा उससे उत्पन्न होनेवाले समस्त भयोंको दूर करनेवाले हैं एवं शत्रुओंके लिये जो उग्र हैं और अपार संसार-समुद्रसे पार करनेवाले हैं,जो प्रकाशमय हैं तथा अपने नाम-गुणका श्रवण करके प्रसन्न हो जाते हैं,उन दुःख एवं दारिद्र्यके दहन करनेवाले भगवान् शिवको नमस्कार है। जो गजचर्मको वस्त्रके रूपमें धारण करते हैं तथा श्मशानके भस्मको सारे शरीरमें लगाये रहते हैं, जिनके ललाटपर तीसरा नेत्र स्थित है, जिनके कान मणिमय कुण्डलोंसे अलंकृत हैं, जिनके दोनों चरण मणि-मंजीरसे सुशोभित हैं और जिनके सिरपर जटा विराजित है, उन दुःख एवं दारिद्र्यके दहन करनेवाले भगवान् शिवको नमस्कार है। जिनके पाँच मुख हैं, जो सर्पराजसे विभूषित हैं तथा सुवर्ण-वर्णके वस्त्र धारण करते हैं, जो तीनों लोकोंकी शोभा बढ़ानेवाले हैं और पृथ्वीपर निवास करनेवाले अनन्त भक्तोंको वर देते आये हैं, जो तमोगुणसे सिद्ध होते हैं, उन दुःख एवं दारिद्र्यके दहन करनेवाले भगवान् शिवको नमस्कार है। भगवान् सूर्य जिनको अत्यन्त प्रिय हैं, जो संसार-समुद्रसे तार देते हैं तथा काल—मृत्युको समाप्त कर देते हैं, जो ब्रह्माजीके द्वारा पूजित हैं, जिनके तीन नेत्र हैं, जो समस्त शुभ लक्षणोंसे लक्षित हैं, उन दुःख एवं दारिद्र्यके दहन करनेवाले भगवान् शिवको नमस्कार है। जो भगवान् रामको अत्यन्त प्रिय हैं, जिन्होंने रघुनाथजीको वरदान दिया है, जिन्हें सर्प बहुत प्रिय हैं, जो नरक-समुद्रसे पार उतारनेवाले हैं तथा पुण्यात्माओंद्वारा पुण्य आचरण करानेवाले हैं, जिनकी पूजा सारा देवमण्डल करता है, उन दुःख एवं दारिद्र्यके दहन करनेवाले भगवान् शिवको नमस्कार है। जो मुक्त प्राणियोंके स्वामी हैं, जो चारों फल (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष)-के दाता हैं तथा रुद्रगणोंके स्वामी हैं, संगीत जिन्हें अत्यन्त प्रिय है, वृषराज नन्दी जिनके वाहन हैं, जो हाथीके चर्मको वस्त्र-रूपमें धारण करते हैं, जो समस्त लोकपाल तथा दिक्पालोंके स्वामी हैं, उन दुःख एवं दारिद्र्यके दहन करनेवाले भगवान् शिवको नमस्कार है। जो महर्षि वसिष्ठद्वारा किये गये तत्काल सर्वरोगनिवारक, समस्त सम्पत्तिप्रदायक, पुत्र-पौत्रप्रवर्धक इस स्तोत्रका तीनों संध्याओं (प्रातः, मध्याह्न एवं सायं)-में पाठ करता है,वह स्वर्गको प्राप्त करता है।

॥ श्रीहरि: ॥

आवश्यक सूचना

इस वर्ष (जनवरी १९९६ ई०)-का विशेषाङ्क—'धर्मशास्त्राङ्क' फरवरी एवं मार्च मासके अङ्कोंके साथ सभी ग्राहकोंको भेजा जा चुका है। जिन ग्राहकोंका अग्रिम शुल्क समयसे प्राप्त हो गया था, उन्हें 'कल्याण' रजिस्ट्रीद्वारा तथा शेष ग्राहकोंको सदैवकी भाँति वी० पी० पी० द्वारा भेजा जा चुका है।

जिन ग्राहक महानुभावोंको रुपये भेजनेके बाद भी अभीतक रजिस्ट्री प्राप्त नहीं हुई है, वे मनीआर्डरकी पावती-रसीदकी नकल जाँच-हेतु भेजनेकी कृपा करें।

जिन ग्राहकोंकी वी० पी० पी० किसी कारणवश वापस लौट गयी है, उनसे अनुरोध है कि रु० ९०.०० का मनीआर्डर (रु० ८०.०० वार्षिक शुल्क तथा रु० १०.०० वी० पी० पी० वापसी डाकव्यय) भेजकर 'कल्याण' मँगवानेकी कृपा करें, अथवा पत्र लिखें, जिससे उन्हें रु० ९०.०० की वी० पी० पी० से अङ्क पुन: भेजा जा सके।

कतिपय ग्राहकोंका शुल्क वी० पी० पी० भेजनेके बाद विलम्बसे प्राप्त हुआ है, इनके रुपयोंका समायोजन वी० पी० पी० का भुगतान आनेके बाद उनके लिखे-अनुसार किया जा सकेगा।

विनम्र निवेदन

मनुष्य-जीवनकी सफलता जीवन्मुक्ति और भगवत्प्राप्तिमें ही है। सभी प्राणियोंमें भगवद्दर्शन, सेवाभावना, नि:स्वार्थ प्रेम, सादगी, विनय—प्रेमपूर्ण व्यवहारमें ही सबका सच्चा कल्याण है। भारतवर्षकी मूल संस्कृति और स्वाभाविक जीवनका अंग भी यही है। पर आजकल सारा विश्व भगवान्, धर्म और सेवा-भावनासे विमुख होकर स्वार्थ और अधर्मके कुचक्रमें फँसकर अनेक प्रकारके क्लेशके बवंडरमें विनाशकी ओर अग्रसर हो रहा है। अनेक प्रकारके आणविक अस्त्र और विस्फोटक सामग्रियाँ मानव-जातिका विध्वंस कर रही हैं। मानवता लुप्त-सी हो रही है। ऐसी दशामें मनु, याज्ञवल्क्य, व्यास, वसिष्ठ, गौतम, कपिल, महावीर, बुद्ध आदिके द्वारा प्रदिष्ट दया, प्रेम और विश्व-बन्धुत्वका प्राचीन भारतीय मार्ग ही संसारकी रक्षा कर सकता है। **'कल्याण'** के वर्तमान वर्ष (१९९६)-के विशेषाङ्क **'धर्मशास्त्राङ्क'** में यही विस्तारसे प्रतिपादित है। इसलिये इसके प्रचार-प्रसारकी महान् आवश्यकता है। इस कार्यमें लगकर आप भगवान्के धर्मरक्षा-कार्यमें महान् सहायक बनेंगे। अत: आपसे प्रार्थना है कि **'कल्याण'**-के अधिक-से-अधिक ग्राहक बनाकर पुनीत धर्मकार्यमें यथाशक्ति अवश्य सहयोग प्रदान करें। इस अङ्कके साथ एक 'मनीआर्डर-फार्म' आपकी सेवामें भेजा जा रहा है। इसके द्वारा आप 'नये ग्राहक' बनाकर इस वर्षका वार्षिक शुल्क रु० ८०.०० (सजिल्दका रु० ९०.००) भिजवानेकी कृपा करें।

व्यवस्थापक—**'कल्याण'-कार्यालय, पत्रालय—गीताप्रेस, गोरखपुर—२७३००५**

गीताभवन, स्वर्गाश्रमके सत्संगकी सूचना

प्रतिवर्षकी भाँति इस वर्ष भी गीताभवन, स्वर्गाश्रममें सत्संगके आयोजनकी व्यवस्था है। यहाँ **परम श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज**का वैशाख कृष्णपक्षके द्वितीय सप्ताहमें (अप्रैल-मध्य) पहुँचनेका विचार है। अन्य साधु एवं विद्वान् भी पधारनेवाले हैं।

सत्संग-हेतु यहाँ आनेवालोंसे विनम्र निवेदन है कि वे सत्संग तथा भजनके उद्देश्यसे ही यहाँ पधारें; जलवायु-परिवर्तन आदिके उद्देश्यसे नहीं। सत्संगके निमित्त स्वर्गाश्रमके इस सीमित आवास-कालमें सभी लोगोंको संयमित और नियमित साधक-जीवन बिताते हुए यहाँ आयोजित सत्संग तथा कथा-कीर्तन आदिके कार्यक्रमोंमें प्रतिदिन अनिवार्यरूपसे सम्मिलित होना चाहिये।

महिलाओंको अकेले नहीं आना चाहिये; उन्हें किसी निकट-सम्बन्धीके साथ ही यहाँ आना चाहिये। गहने आदि जोखिमकी वस्तुओंको अपने साथमें जहाँतक सम्भव हो नहीं लाना चाहिये। खाने-पीनेके सामानकी व्यवस्था यहाँ यथासाध्य की जाती है। भगवत्कृपासे प्राप्त इस दुर्लभ सुअवसरसे अधिकाधिक लाभ उठायें।

व्यवस्थापक—**गीताभवन, पो०-स्वर्गाश्रम-२४९३०४**